

विद्या आश्रम के हिन्दी प्रकाशन

सभी प्रकाशन विद्या आश्रम की वेब साईट (vidyaashram.org) पर उपलब्ध हैं
और विद्या आश्रम, सारनाथ से डाक द्वारा भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

1. लोकविद्या विचार (पुस्तक) 200 पृष्ठ
2. लोकविद्या संवाद (पत्रिका) कुल 16 अंक
3. लोकविद्या पंचायत (पत्रिका) कुल 17 अंक
4. कारीगर नजरिया (पत्रक) कुल 6 अंक
5. **ज्ञान की राजनीति पुस्तकमाला** (कुल 5 पुस्तिकायें)
 - बौद्धिक सत्याग्रह
 - लोगों के हित की राजनीति
 - ज्ञान मुक्ति आवाहन
 - युवा ज्ञान शिविर
 - लोकविद्या
6. **लोकविद्या जन आन्दोलन पुस्तकमाला** (कुल 10 पुस्तिकायें)
 - विस्थापन रोको
 - बाज़ार मोड़ो-लोकविद्या बाज़ार बनाओ
 - स्मारिका-लोकविद्या जन आन्दोलन का प्रथम अधिवेशन 2011
 - लोकविद्या सत्संग
 - लोकविद्या जन आन्दोलन का बिहार समागम
 - लोकविद्या जन आन्दोलन का मध्यप्रदेश प्रांतीय अधिवेशन
 - लोकविद्या जन आन्दोलन : मालवा और निमाड़ में
 - जन संघर्ष और लोकविद्याधर समाज की एकता
 - ज्ञान पंचायत
 - सभी की आय पक्की व नियमित हो...
(हिंदी, अंग्रेजी, तेलुगु, उर्दू, बंगाली, मराठी, और कन्नड़)
 - लोकविद्या प्रपंचम (तेलुगु पत्रिका)
7. **स्वराज पुस्तकमाला** (कुल 2 पुस्तिकायें)
 - स्वराज पर विमर्श के सन्दर्भ
 - स्वराज परम्परायें
8. **लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला** (कुल 2 पुस्तिकायें)
 - टेंगरा का पैतरा
 - लोकस्मृति
9. **पूर्वांचल के ज्ञानी** (कुल दो पुस्तिकायें)
 - रामअधर गिरी : लोकहित के प्रहरी
 - किसान योद्धा : भूपौली का वीर - जगदीश सिंह यादव

स्वराज पुस्तकमाला-2

स्वराज परम्परायें

विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी

स्वराज पुस्तकमाला-2

पुस्तिका का नाम : स्वराज परम्परायें

लेखक : चित्रा सहस्रबुद्धे

प्रकाशन वर्ष : 2021

सहयोग राशि : रुपये 25.00 मात्र

प्रकाशक : विद्या आश्रम की ओर से समन्वयक डा. चित्रा सहस्रबुद्धे द्वारा
सम्पादित और प्रकाशित

संपर्क :

- पता : विद्या आश्रम
सा 10/82 ए, अशोक मार्ग, सारनाथ, वाराणसी-221007
- मोबाइल : 9839275124
- ई-मेल : vidyaashram@gmail
- वेबसाईट : vidyaashram.org
- ब्लॉग : lokavidyajanandolan.blogspot.com
- फेसबुक समूह : Dialogues on Knowledge in Society

मुद्रक : सत्तनाम प्रिंटर्स
नई बस्ती, पाण्डेयपुर, वाराणसी-221002

विषय सूची

1. स्वराज पुस्तकमाला के बारे में	4
2. विषय प्रवेश	5
3. समाज और राज	7
• संत परम्परा	
• राज परम्परा	
(क) गाँव, कृषि, उद्योग	
(ख) ज्ञान	
(ग) शिक्षा	
(घ) कला	
• लोक परम्परा	
4. 20वीं सदी में वितरित सत्ता के प्रयास	36
• औंध का स्वराज संविधान (1938)	
• तामलुक स्वराज पंचायत (1942)	
• उड़ीसा में स्वराज के प्रयोग (1942)	
• विनोबा भावे का सर्वोदय और स्वराज के विचार	
• चौ. चरणसिंह का 'किसान सत्ता' का विचार	
• राम मनोहर लोहिया का चौखम्भा राज का विचार (1956)	
• जयप्रकाश नारायण का दल विहीन लोकतंत्र का विचार (1976)	
• किसान आन्दोलन का अ-राजनैतिकता का विचार (1980 से अब तक)	
• जल-जंगल-ज़मीन और पर्यावरणीय आन्दोलनों की प्रवृत्ति (1973 से)	
5. 21वीं सदी में वितरित सत्ता के विचारों का मैदान	45
6. अंत में	50

स्वराज पुस्तकमाला के बारे में

विद्या आश्रम द्वारा प्रकाशित स्वराज पुस्तकमाला की कड़ी में यह दूसरी पुस्तिका है। आज की परिस्थितियों में वितरित सत्ता अथवा स्वराज पर संवाद को आकार देने की दिशा में यह पुस्तकमाला एक पहल है।

हमारे देश के आज़ादी के आन्दोलन में स्वराज एक लोकप्रिय व लोकहितकारी लक्ष्य के रूप में अस्तित्व में आया था, लेकिन आज़ादी के बाद लोकतंत्र और समाजवाद की व्यवस्थायें हावी रहीं और राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्थाओं पर विचार विमर्श में साइंस और सोशल साइंस की पद्धतियों को वरीयता मिलती रही। आज़ाद भारत में अंग्रेजी और साइंस के नेतृत्व में पश्चिम के ज्ञान का विस्तार हुआ, विश्वविद्यालय बनते चले गये और इसी ज्ञान के सन्दर्भ में सारी राजनीति 'विकास' के नाम पर केन्द्रित हो गई। समाज में ज्ञान, लोकविद्या, को किनारे कर दिया गया, उसे राज्य का समर्थन घटता चला गया, जिससे लोगों के रोजगार, संसाधन और अधिकार छिनते चले गये। समयांतर में आधुनिक व्यवस्थाओं में लोगों को खुशहाली, मुक्ति व आज़ादी के रास्ते दिखने बंद हो गये। यह सुखद है कि इस सदी से 'स्वराज' पुनः सार्वजनिक बहस में आ गया है।

स्वराज यानि वितरित सत्ता के बारे में सोचने के लिए यह उचित होगा कि समाज में स्थित ज्ञान और लोकपहल के सन्दर्भों को प्राथमिकता दी जाये। स्वराज पुस्तकमाला के जरिये राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं पर संवाद को इस तरह आकार देने की कोशिश है, जिसमें लोकविद्या, लोकस्थ दर्शन, कला, भाषा, संवेदना और जीवन मूल्यों के सन्दर्भों को उचित महत्त्व मिले। इन्टरनेट और वैश्वीकरण की व्यवस्था में वितरित सत्ता के विचार किस तरह प्रभावी विकल्प के रूप में उभर सकते हैं, यह विचारणीय है।

इस पुस्तक में मनुष्य की गतिविधि के विविध क्षेत्रों में स्वराज के विचार और परम्पराओं को प्रस्तुत करने का प्रयास है।

– संपादक

विषय प्रवेश

दुनिया के कुछ प्रमुख देशों के शासकों ने वर्ष 2020 में कोरोना महामारी को दुनिया का सबसे बड़ा संकट घोषित कर दिया। यह देखने में आ रहा है कि इस महामारी के दौरान दुनिया के लगभग सभी शासक बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन ला रहे हैं। हमारे देश में ये परिवर्तन कृषि बिल, श्रम कानून बिल में संशोधन, सीएए, एनआरसी, जीएसटी, नोटबंदी जैसे कदमों में देखे जा सकते हैं। इन कानूनों से गंभीर सवाल खड़े हो चुके हैं, जो मनुष्य और प्रकृति के भविष्य के बारे में गंभीरता से सोचने के लिए बाध्य करते हैं। कोरोना के सहारे कई देशों के शासक तेजी से आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों के दायरों को संकुचित करते जा रहे हैं। जन जीवन को अनिश्चितता, विपन्नता, युद्ध और भय के साये में जीने के लिए मजबूर किया जा रहा है। पुलिस व प्रशासन सेवा देने की जगह नागरिक जीवन को अपनी गिरफ्त में कसता जा रहा है। किसान, कारीगर, छोटे-छोटे दुकानदार, स्त्रियाँ, मजदूर, आदिवासी, आदि सभी के रोजगार व अधिकार तेजी से खत्म होते जा रहे हैं। असत्य, अनैतिक योजनाओं, नीतियों और जुल्म के दायरे तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। सामान्य जन के प्रति शासकों की संवेदनहीनता जनजीवन के भविष्य को अंधकारमय बना रही है। विभिन्न संस्कृतियों के सहजीवन की इस सदाबहार हरियाली को बंजर और वीरान करने का यह जुनून हमें कहाँ ले जायेगा?

सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्ता इस परिस्थिति के लिए राज्य संस्थाओं को ज़िम्मेदार बता रहे हैं। वे कह रहे हैं कि 'लोकतंत्र' को खत्म करके 'तानाशाही' लाई जा रही है। लेकिन इस दौर के शासक वर्गों के व्यवहार इन शब्दों से हटकर अलग भाषा की मांग कर रहे हैं। सामान्य जन के लिए ये दोनों कोई बहुत अलग अर्थ नहीं प्रकट करते और जीवन पर अनैतिक अतिक्रमण करने वाली राजसंस्थाओं के रूप में ही दिखाई देते हैं। ये व्यवस्थाएं मनुष्य की बनाई हुई हैं और जब-जब ये मनुष्य, समाज या प्रकृति के खिलाफ खड़ी हो जाती हैं, तब-तब यह देखना ज़रूरी हो जाता है कि इन व्यवस्थाओं के ज्ञान-गत आधार में ही कुछ गलत (अनैतिक) तो नहीं है? इनके ज्ञान-गत आधार को पुनः नैतिक (लोकहितकारी) बनाने की क्रिया से

मनुष्य खुद को राज व्यवस्थाओं का नियंता और विधाता बना सकता है, वरना वह इनका गुलाम बना रहेगा।

सवाल है कि समाज में ये क्रियाएं कैसे शुरू हों? इसका जवाब खोजने का रास्ता अनेक सभ्यताओं ने अनेकों बार सामने लाया है। इन अनुभवों का जखीरा मनुष्य की विरासत है। आज इस जखीरे को फिर से टटोलना होगा और मनुष्य और प्रकृति दोनों को खुशहाल करने के आज के लिए अनुकूल विचारों का पुनर्निर्माण करना होगा। मनुष्य की मानवीय शक्तियों की पहचान और उनका संग्रह ऐसे विचारों के निर्माण के मार्ग खोल सकती हैं।

लेकिन इस कार्य में हमें सचेतन होकर ध्यान रखना है कि समाज संगठन और सञ्चालन यह एक जैव प्रक्रिया है। इसमें सभी अंग (जीव-जड़, सभी) जब अपनी-अपनी सक्रियता (अपने ज्ञान, अनुभव, स्वभाव, और कर्तव्य) के साथ शामिल होते हैं, तभी एक न्यायपूर्ण, खुशहाल और स्वस्थ समाज या सभ्यता का निर्माण होता है। सूक्ष्म से स्थूल तक चल रही इन जैव क्रियाओं को पुष्ट करने के साथ इसे बाधित करने वाली शक्तियों अथवा क्रियाओं को सही करना, मर्यादित करना, अथवा त्यागना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य हो सकता है। सभ्यताओं से मिली विरासत हमें इस जैव प्रक्रिया को निरंतर नवीन करने में सहायक है। हमारे देश में ही ऐसे तरीकों की कई लम्बी परम्परायें मौजूद हैं। आज फिर एक बार इन तरीकों पर नज़र डालने की ज़रूरत है।

इस छोटी सी पुस्तिका में 'स्वराज' परम्पराओं के संकलन का प्रयास इसी दिशा में एक कदम है।



समाज और राज

भारत में 'समाज' शब्द का अर्थ यह लिया जाता रहा है कि एक ऐसा लोक-समुदाय जो अन्य लोक-समुदायों और प्रकृति (जीव-जड़) के साथ सहजीवन के रास्तों को बनाने में अपने कर्तव्यों को खुद तय करता है। समाज और सामाजिक संबंधों का गतिशील जाल कुछ ऐसा माना गया है जिसमें 'व्यक्ति' की पहचान समाज से ही होती रही है। ध्यान देने की बात यह है कि इस समाज में केवल मनुष्य नहीं होते बल्कि आस-पास का पर्यावरण, जीव, जड़, आकाश, नदी, पहाड़ सब आते हैं। परिवार, कुनबा, जाति, क्षेत्र, भाषा, ज्ञान, जीविका ये सब पहचान बनाने के स्वायत्त दायरे हैं जो आपस में इस कदर मिले-जुले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता लेकिन वे अपने में स्वायत्त हैं, पूर्ण माने गए हैं। जीव की तरह ही हर संगठन और व्यवस्था (अपने में से अलग कर) नये का जनन करती हैं, जो स्वयं में पुनः स्वायत्त (पूर्ण) होती हैं। ऋषि याज्ञवल्क्य का निम्नलिखित कथन 'समाज' के इसी चित्र को खींचता है।

**“वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण ही उद्धटित (प्रकट, जनन) होता है।
पूर्ण से पूर्ण निकालने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है ॥”**

जैसे जीव जीव को, परिवार ही परिवारों को जन्म देते हैं, कुनबे कुनबों को, जातियाँ जातियों को, समाज समाजों को, भाषाएँ भाषाओं को आदि कहावत भी है- “जाति-जाति में जाति हैं, जो केतन के पाता।”

ये इकाइयाँ स्वायत्त अथवा पूर्ण होते हुए भी एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, इनके बीच अनेक संबंध हैं। समाज को 'स्वायत्त संबंधों का जाल' माना गया, जिसमें हर इकाई (व्यक्ति से लेकर ब्रह्माण्ड तक) स्वायत्त मानी गई, अपने में पूर्ण मानी गई लेकिन निरंतरता के धागों को बुनती मानी गई। हर इकाई इस मूल्य के साथ बंधी मानी गई कि वह समाजहित के लिए खुद के कुछ हितों और स्वार्थ का त्याग करे। समाज के संगठन और प्रकृति के साथ संबंधों में त्याग यह एक महत्वपूर्ण मूल्य रहा। अर्थ, ज्ञान, सत्ता आदि सभी के प्रति संचय की प्रवृत्ति समाज विरोधी मानी

गई समाज की हर इकाई अपने से बड़ी इकाई (भूत और भविष्य) के लिए कुछ त्याग करे और यह क्रम बृहत् और बृहत्तर समाज के लिए बनता जाए।

‘त्याग’ के साथ ही ‘प्रेम’ की अवधारणा समाज-संगठन के ज्ञानगत आधार (विचारधारा) का एक महत्वपूर्ण खम्भा रही। हमारी संस्कृति में ‘प्रेम’ यह ‘स्वायत्तता पूर्ण समता’ को प्रतिष्ठित करने का सामाजिक विचार है, जिसे अलग-अलग समाजों और शासकों ने अलग-अलग ढंग से आचरण में लाया। ‘स्वायत्त अस्तित्व, त्याग और प्रेम’ के सामाजिक विचार ने समाज की छोटी इकाइयों को ‘कर्ता’ और ‘दाता’ के रूप में प्रतिष्ठित किया और समृद्धता को छोटी इकाइयों में बंधे रहने की भौतिक व्यवस्थाओं के निर्माण के रास्ते खोले। इससे छोटी इकाइयों शक्ति के पुंज बनीं। इस तरह के सामाजिक विचार और मूल्यों के चलते सामाजिक-शक्ति का अब्दुत उठाव देखा गया, जिसके दर्शन हमें हमारी संत परम्परा, राज परम्परा और लोक परम्पराओं में मिलते हैं। आज भी इनकी व्यापक उपस्थिति उन समाजों में देखी जा सकती है, जो आधुनिक व्यवस्था और क्रियाकलापों में उतने शामिल नहीं हैं जितने शामिल महानगरों के लोग या पढ़े-लिखे लोग हैं।

वर्तमान आधुनिक राज्य की अवधारणा में समाज का अस्तित्व गौण या प्रभावहीन बना दिया गया है। राज्य चाहे राजशाही हों या लोकतांत्रिक, समाजवादी हों या साम्यवादी हम आज पाते हैं कि इन सभी राज्यों में ‘समाज’ को अगर थोड़ी बहुत मान्यता मिलती भी है तो वह केवल मनुष्यों तक ही सीमित है, और कभी यह भी संकुचित होकर केवल ‘नागरिक’ मनुष्यों तक रह जाती है। ‘नागरिक मनुष्य’ को छोड़ अन्य सभी जीव-जड़, मनुष्य-श्रम, ज्ञान, पर्यावरण मात्र संसाधन और संपत्ति हैं और इन्हें संगठित करना राज्य का अधिकार माना जाता है। यह भी कि प्रकृति, वित्त, तकनीक, श्रम और ज्ञान आदि से सम्बंधित तमाम संसाधनों को संगठित करने के लिए ऐसी ज्ञान विधाओं की जरूरत होती है जिसमें मनुष्य और उसकी सामाजिक भूमिका गौण बना कर रखी जा सके। अमेरिका जैसे देशों में तो समाज नाम की पहचान ही नहीं रह गई है। साइंस के ज्ञान ने यह संभव बनाया। साइंस के सिद्धांतों में मनुष्य की भूमिका गौण है। इसके अलावा राज्य के ऐसे प्रकार की आवश्यकता थी जिसमें एक शक्तिशाली केंद्र हो, जैसे केन्द्रीय सरकार, जिसे सब तरह की संपत्तियों पर अधिकार हो। यहीं नहीं इन अधिकारों को कार्यान्वित करने के

लिए उसे कानून बनाने व बल-प्रयोग कर उसे लागू करने को भी मान्यता हो। इस मान्यता के तहत 'आधुनिक राज्य' का गठन हुआ। साइंस (और इस पर आधारित तकनीकी) और 'आधुनिक राज्य' इनका गठबंधन परस्पर एक दूसरे को मजबूत कर एक ऐसी व्यवस्था को बनाते हैं, जिसमें मनुष्य और समाज की भूमिका निर्णायक/प्रभावी नहीं रह जाती। केंद्र चाहे लोगों द्वारा चुनी गई सरकारों के हाथ हो, लोकतंत्र हो, समाजवाद या साम्यवाद हो, मनुष्य और समाज उसके हाथों का एक खिलौना बन जाता है, वह राज्य के हाथों विलास का एक निर्जीव साधन मात्र रह जाता है। इस व्यवस्था में छोटी इकाइयों के पास न वित्तीय शक्ति और न निर्णय की शक्ति रह जाती है, उल्टे वे छोटी से छोटी वस्तु, सुविधा अथवा जायज बदलाव आदि के लिए केन्द्रीय शासन पर निर्भर होती हैं, केंद्र की गुलाम होती हैं। केंद्र ही तय करता है कि छोटी इकाइयाँ क्या और कितना हिस्सा केंद्र को देंगी और कितना केंद्र उन्हें वापस देगा। ऐसे में छोटी इकाइयाँ हर तरह से विपन्न होती जाती हैं।

इसके उलट जब हम कहते हैं कि बृहत्तर और बृहत् समाज कई स्वायत्त-समाजों से बना है तो इसका मतलब है कि ऐसे समाजों में मनुष्य और समाजों की सक्रियता के ऐसे अनेक केंद्र होते हैं, जो स्वयं अपने कार्य, कर्तव्य, दर्शन, विद्या, समाज-संगठन और सञ्चालन आदि के स्वामी होते हैं। **ऐसे समाज राजनीतिक-समाज नहीं होते**, इन्हें लोक-शासित-समाज अथवा स्वराज-समाज कहा जा सकता है। इतिहासकार, संस्कृति व सभ्यताओं के विचारक यह बताते हैं कि इस तरह के समाजों की लम्बी परम्परायें हमारे देश में रहीं। ये समाज किसी भी अर्थ में संकुचित न थे। इनमें व्यक्ति के कर्तव्य और मर्यादाओं का घेरा बृहत् और बृहत्तर समाज, सृष्टि व ब्रह्माण्ड तक के सन्दर्भ में निर्धारित होता पाया गया है। याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, बुद्ध, महावीर, विदुर, गोरखनाथ, आमिर खुसरो, बासवन्ना, आलवार, नयनार, रविदास, कबीर, तुलसीदास, मीरा बाई, गरीबदास, नरसी, गुरुनानक, बुल्लेशाह, एकनाथ, तुकाराम, नामदेव, बहिणाबाई, गोरा कुम्हार, आदि अनेक-अनेक संतों से लेकर गाँधी तक हमारे यहाँ समृद्ध संत परंपरा रही है, जिसने बार-बार इसी स्वराज-दर्शन के बुनियादी आधारों पर समाज को शक्तिसंपन्न बनाया है। संत दर्शन समाज-संगठन के समग्र दर्शन के पुनर्निर्माण में अपनी भूमिका निभाता रहा है। यहाँ राजाओं (शासनकर्ता) से अधिक संतों का सम्मान रहा है। ये संत लगभग सभी जातियों और क्षेत्रों के रहे हैं। इनके विचारों में समाज व जीवन के

नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि सभी पक्षों को सम्यक् बनाने का दिशाबोध मिलता रहा है। लोक में आज भी ऐसे संत बिखरे मिलते हैं जिनका लोक से सतत् एक दार्शनिक संवाद चलता रहता है। हमारे भूतकाल को मठाधीश, राजा, राजवंश और उनके युद्धों को केंद्र में रखकर देखने से यहाँ के समाज-संगठन का सही चित्र नहीं मिलता।

आज की लगभग सभी राजनीतिक विचारधारायें 'साम्राज्य' का विचार व्यक्त करती हैं। ऐसे समाजों को **राजनीतिक-समाज** कहा जाता है। राजनीतिक विचारधाराओं में स्वायत्तता के विचार को अधिक स्थान देने में केन्द्रीय सत्ता के अस्तित्व के लिए खतरा माना जाता है। केन्द्रीय सत्ता किन्हीं भी 'समाजों' को, जिनकी अपनी एक पहचान और विरासत होती है, नहीं मानती; उन्हें केवल 'जनता' मानती और कहती है। एक ऐसी जनता जिसका कोई चेहरा नहीं, जिसे कोई समझ नहीं, जिसे कुछ आता नहीं, जिन्हें समझाना है और जो केवल लाभार्थी है। महत्वपूर्ण यह कि राजनीति जनता पर 'शासन' करने की नीति है, इसलिए 'समाजों' को वह 'जनता' बनाये रखने के नए-नए तरीके अपनाती रहती है।

राजनीतिक-समाज केन्द्रीय सत्ता पर अधिकार को प्रमुख मुद्दा बना देता है और प्रकृति, समाज, मनुष्य, सत्य, न्याय, भाव, संवेदना आदि जैव गतिशील गुण गौण बन जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, इन गुणों के बल पर निर्मित हो रही वास्तविक गतिविधियाँ, संबंध, आदि जो मिलकर सतत् वस्तुस्थितियों का निर्माण करते रहते हैं, गौण बना दी जाती हैं। ऐसे में केन्द्रीय सत्ता और जनता के बीच निर्जीव सम्बन्ध बनते हैं। केन्द्रीय सत्ता इस या उस विचारधारा के साथ रहकर इन निर्जीव संबंधों को बनाये रखने के रास्ते बनाती रहती है।

हमारे यहाँ के स्वायत्त-समाजों के संगठन और संचालन के विचार, कार्य, सक्रियता के प्रकार, मूल्य, तर्क आदि इन राजनीतिक-समाजों के संगठन व सञ्चालन के विचार/कार्य/तर्क/मूल्य आदि से भिन्न रहे हैं। राजनीतिक विचारधाराओं के अंतर्गत इनकी समझ नहीं बनाई जा सकती। लेकिन पढ़े-लिखे लोग पश्चिम के राजनीतिक विचारों को ही पढ़ते हैं और उनसे मिलते-जुलते विचारों को हमारे यहाँ खोजने लगते हैं। ऐसे में हम अपने समाज की मौलिक शक्ति से गाफिल बने रहते हैं और कुछ उन अलोकप्रिय उदाहरणों को उछाल देते हैं जो

पश्चिम के विचारकों जैसे लगते हैं। ऐसे में पूरी समृद्ध संस्कृति की विरासत को नजरंदाज करते रहते हैं। यही कारण है कि संतों के जीवन और विचारों में समाज-संगठन और समाज-सञ्चालन के सिद्धांत और विचार भी हैं, इस बात को ही हमारे विश्वविद्यालयों के विचारकों ने सिरे से नकार दिया है। उन्होंने संतों के विचारों को धर्म, भक्ति, अध्यात्म, जातीय चेतना, काव्य, साहित्य जैसे खांचों में बांध दिया है। पढ़े-लिखे लोगों का यह काम हमारे समाज-संगठन/सञ्चालन के प्रकारों की विशेषता और शक्तियों पर पर्दा डालने का काम करता है।

हम यह भी भूल जाते हैं कि पिछले 200-300 वर्षों का काल दुनिया पर पश्चिम की संस्कृति (यानि मुख्यतः साइंस, डेमोक्रेसी, और मोटे मुनाफे वाली आर्थिकी के गठबंधन) का साम्राज्य बनाने का रहा है और इसी का नतीजा है कि गरीबी, अज्ञान, अत्याचार, गैर-बराबरी, नफ़रत, भय को फैलाना शासकों की रणनीति बन गई है और वे हर स्तर पर युद्धों के बारम्बार होते रहने की स्थितियों के निर्माण को जनता की लूट और अपने को शासन में बने रहने का प्रमुख आधार बना रहे हैं।

ऐसे में हम क्यों न अपनी विरासत और उन परम्पराओं की ओर एक बार फिर से मुड़ कर देखने की कोशिश करें जिनमें एक खुशहाल समाज को बनाने की संभावनाएं मिलती हैं और जिन्हें समाज के पुनर्निर्माण का बार-बार आधार बनाया जाता रहा है। यहाँ हमारी संत परम्परा, राजाओं की परम्परा और लोक-प्रचलित परम्पराओं में स्वराज के विचारों को देखने का प्रयास करेंगे।

I. संत परम्पराओं में स्वराज

संत परम्पराओं में समाज और सामाजिक व्यक्ति की भूमिका को ठोस मान्यता है, उसके भाव, कर्म, विवेक, और ज्ञान की भूमिका प्रभावी मानी गई है। हमारे देश में उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक हर क्षेत्र, जाति और धर्म में ऐसे संत रहे हैं, जिन्होंने हर युग में समाज-संगठन के विचार पर समाज से खुलकर वार्ता की, समाज को गढ़ने में, उसे पुनः सुमार्ग पर लाने में प्रत्यक्ष दखल ली।

अलग-अलग संतों ने अलग-अलग ढंग से जो बातें कही हैं उसके सार को कम शब्दों में रखें तो वह यह कि- कण-कण और घट-घट में एक ही सत्ता है। इस धरती का यह सामाजिक भाईचारे और बराबरी का ठोस विचार है। प्रत्येक जड़-जीव को अपने गुण-धर्म के बल पर कर्तव्य का बोध है और इस कर्तव्य बोध से कार्य (सक्रियता) करने की स्वायत्तता है। इस स्वायत्तता की मर्यादा का बोध भी है, जिससे अन्य जड़-जीव की स्वायत्तता संकुचित न हो। संतों के विचारों में जीविकोपार्जन के कार्य और परिवार के प्रति जिम्मेदारियों को आध्यात्मिक/दार्शनिक कार्य का दर्जा है। संतों के ये विचार 'स्वराज दर्शन' के ठोस आधार रहे हैं।

संत परम्परा के 'स्वराज दर्शन' में 'सत्य' को सर्वोच्च स्थान है। कबीर के शब्दों में यह सरलता से व्यक्त हुआ है-

“सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पापा
जिनके हिरदय सांच है, उनके हिरदय आप”॥

'सत्य' घट-घट (प्रत्येक जड़-जीव) में स्थित सत्ता है। सृष्टि और ब्रह्माण्ड में 'सत्य की सत्ता' वितरित है। इस सत्ता के दर्शन करने योग्य बनना, उसके संगीत (आदेश नहीं) को सुनना, उस संगीत की लय में ढलकर कर्म करना ही मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ जीवन-मार्ग है। मनुष्य का ज़मीर/विवेक/अंतरात्मा इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके मार्फत ही वह 'सत्य मार्ग' की पहचान और उस पर चलने का बल प्राप्त करता है। ज़मीर को जागृत करने/बनाये रखने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक माना गया। इन्हें गांधीजी ने इस युग में अपने एकादश व्रत में समकालीन/नवीन कर संकलित किया है, ये हैं... अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह (अपरिग्रह), शरीर-श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जनम, सर्वधर्म सम-भाव, स्वदेशी, स्पर्श भावना।

सत्य की सत्ता में सक्रिय भूमिका निभाने योग्य बनने में मनुष्य को स्वयं के विवेक को जागृत करना यह पहला कर्म है और इसके लिए उपरोक्त व्रतों का पालन करने के प्रयास मददगार हैं। ये प्रयास ही एक ऐसी समाज-व्यवस्था को जन्म देने की शक्ति रखते हैं, जिसमें हर कण, हर जीव, कुनबा, जाति, क्षेत्र, प्रदेश, हर इकाई और संप्रदाय 'कर्ता' का दर्जा हासिल कर पाये। व्यक्ति और

समाजों की तमाम गतिविधियां और तंत्र/संस्थानों का स्वरूप व उनकी कार्य पद्धतियां कुछ इस प्रकार आकार लेती हैं, जिनमें सत्ता किसी एक जगह न होकर पूरे समाज में वितरित होती है, जीवंत, लचीली व गतिशील रहती है। सत्ता के इस वितरित रूप का कोई एक सिद्धांत नहीं है तथा अलग-अलग क्षेत्र और कालों में इसके भिन्न रूप व प्रकार रहे हैं, लेकिन वितरित सत्ता को मान्यता रही है।

‘स्वराज’ इसी वितरित सत्ता का एक नाम है। इस वितरित सत्ता की अवधारणा ठोस रूप लेती तब दिखाई देती है, जब पर-पीड़ा का ज्ञान हो। संत परम्परा में पर-पीड़ा को खुद में महसूस करने पर विशेष जोर है। कबीर के अनुसार ‘कबीरा सोई पीर (ज्ञानी) है, जो जाने पर पीर’। वह ज्ञान और कर्म व्यर्थ अथवा अन्यायपूर्ण है, जो पर-पीड़ा के प्रति उदासीन हो। बिना भेद सभी से प्रेम की महिमा इसीलिए रही है, प्रेम के बिना ज्ञान कैसे हासिल हो सकता है? स्वराज में व्यक्ति और व्यवस्थाओं को पर-पीड़ा के प्रति संवेद्य होने/बनाने और इस अनुकूल आचरण करने का बंधन ही उनकी स्वायत्तता की मर्यादा है। मनुष्य गतिविधि के हर क्षेत्र में अहिंसा पालन का विचार इस मर्यादा को पहचानने का प्रकट साधन बनता है।

मनुष्य के ज्ञान और कर्म एकदूसरे को परस्पर गढ़ते हैं। मनुष्य खुद और उसके जीवनमूल्य, दर्शन, ज्ञान, कर्म, और कृतियाँ ये एक-दूसरे से पूरी तरह अलग नहीं हैं। ऐसे में मनुष्य को कण से लेकर ब्रह्माण्ड तक निरंतरता, गतिशीलता और परस्परता को पहचानना है तथा इनमें भेद/विश्लेषण करने की दृष्टि को त्यागना है। भेद का मार्ग किन्हीं भी वस्तु/विचार/क्रिया/संगठन के बीच भिन्नता इसे ‘ज्ञान’ का आधार बनाता है। जबकि संत परम्परा ‘सम्बन्ध किस प्रकार का है’ इसे ‘ज्ञान’ का आधार मानती है। “यह तेरा है यह मेरा है” यह भेद न रहे यही ज्ञान मार्ग है।

संतों ने भेद/विश्लेषण की दृष्टि को अहंकार का स्रोत माना। यह अहंकार मनुष्य और समाजों को सत्य से भटकाता है, असत्य, लोभ, मोह, ईर्ष्या, क्रोध को सक्रिय करता है और विवेक को सुला देता है। अहंकार व्यक्ति, समाज, संस्था, संप्रदाय, क्षेत्र, ज्ञान, भाषा, राष्ट्र किसी भी स्तर और प्रकार का हो, इसे अवांछनीय माना है और इसे नियंत्रित अथवा मर्यादित करने का मार्ग एकादश व्रत जैसे व्रतों के पालन में देखा गया है। **ये व्रत व्यक्ति, समाज, व्यवस्थाओं/संस्थाओं आदि सभी के आचरण का अंग बनें यह संत परम्परा का**

सामाजिक विचार है। बुद्ध के 'अष्टांग मार्ग', बासवन्ना की 'कल्याणपुरी', कबीर की 'अमरपुरी', रैदास का 'बेगमपुरा', तुलसी का 'रामराज्य' अपने समय के स्वराज का विचार और चित्र प्रस्तुत करते हैं।

इन सबके बावजूद महत्व की बात यह है कि संत परम्परा ने शरीर यानि ढाँचा अथवा संगठन या व्यवस्था को नश्वर माना और इसके प्रति मोह को बेबुनियाद माना, बाधा माना, भ्रम की टाटी कहा। संत वचनों में ढाँचे और व्यवस्थाओं की चौहद्दी से बाहर निकलकर सतत् नये पुनर्निर्माण का आग्रह है, समाज-संगठन में भी सतत् ऐसे पुनर्निर्माण व नवीनीकरण का आग्रह है। मनुष्य की सक्रियता का मार्ग इसी में माना है कि ढाँचे/व्यवस्था/चौखट का निर्माण करो लेकिन उसे पिंजरा न बनने दो। कबीर ने इसे ही कहा...

“हद हद करते सब गए, बेहद गयो न कोई
अरे अनहद के मैदान में, कबीरा रहा सोई।
हद हद जपे सो औलिये, बेहद जपे सो पीर
हद-अनहद दोनों जपे, सो वाको नाम फ़कीरा।”

जिसने व्यवस्था/संगठन को ही सब कुछ मान लिया वह बंध गया। यानि संगठित बल, संगठित ज्ञान, संगठित धन, संगठित विचार (विचारधाराएँ) अथवा संगठित धर्म/सम्प्रदाय, ये सब मात्र ढाँचे हैं। ग्रन्थ या कम्प्यूटर में संग्रहित ज्ञान भी ढाँचा ही है, जब तक उसे सामान्य जीवन में, आचरण में लाकर नित नवीन न बनाया जाये। समयांतर में ये ढाँचे ठहरे पानी की तरह मैले, सड़े या मृत हो जाते हैं और तब सामान्य (सहज) जीवन के प्रवाह को अवरुद्ध करते माने गए। असत्य, अन्याय और पाखंड के घर माने गये। इसके चलते मनुष्य और समाजों के वांछित मार्ग कठिन बन गए। इसे ही कबीर कहते हैं “अमरपुरि की अलबेली गलियां, अड़-बड़ है चलना” लेकिन इस जटिल मार्ग पर चलना ही सच्ची वीरता मानी गई, तलवार चलाने में नहीं। सतत् निर्माण करो लेकिन उसके मोह में न बंधो, सक्रिय बनो लेकिन मर्यादा के बोध के साथ, संगठन और व्यवस्था का सतत् निर्माण करो लेकिन उसको स्थाई न मान लो, सतत् नवनिर्माण करो ! यह तो तलवार की धार पर ही चलना हुआ। इसी मार्ग को संत तुकाराम कहते हैं “रात्रं दिवस आम्हां युद्धा चा प्रसंग” यानि “रात-दिन युद्ध की घडी है”। गाँधी ने इसे सत्याग्रह कहा।

सत्य, स्वायत्तता, संवेदना (भाव) और मर्यादा स्वराज की बुनियाद हैं। मनुष्य की गतिविधियों में, धर्म, अर्थ, ज्ञान, कर्म और कृतियों में इन्हें ले आना ही पुरुषार्थ माना गया है। इनकी बुनियाद पर पसरी और पनपती स्वराज की दुनिया में जीवन अपने पूरे ओज व उल्लास के साथ लहलहाता है, सूक्ष्म से लेकर स्थूल में, अणु-परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड के पिंड तक चेतना का सागर लहराता दिखाई देता है। यह सहज, प्राकृतिक अथवा सामान्य जीवन का रूप है।

भारत जैसे समाजों में ऐसे स्वराज को आकार देने के प्रयास इतिहास के हर युग में हर स्थान पर हुए तथा निरंतर होते रहने में ही इनकी जीवन्तता और प्रासंगिकता रही। अलग-अलग काल में इसके अलग-अलग रूपों ने आकार लिया। सगुण, निर्गुण, अलग-अलग नव-नवीन प्रतीकों (देवताओं) के रूप, गुण और रस्म का चलन, कथा-साहित्य-कला में इसकी प्रस्तुति, अनेक धर्मों का उदय, आदि ये सब इस दर्शन के कालानुसार शरीर/ढांचे/साधन (जो नश्वर होते हैं) के लोकस्थ रूप हैं। कथा चाहे कोई भी हो, सन्देश मात्र इस स्वराज दर्शन का ही है। समाज-संगठन के रूप चाहे कोई हों लेकिन अंतिम कसौटी तो स्वराज के बुनियादी विचारों को मूर्त रूप देने में ही परखी जाती रही।

हमारे संतों की इस महान उपलब्धि को स्थूल रूप में सगुण, निर्गुण, धर्म, जाति, देव चरित, संप्रदाय, व्यक्ति, भक्ति, ग्रन्थ, आदि में भेद कर अथवा इनमें सीमित कर देखने की प्रवृत्ति हमें उसकी बुनियादी शक्ति को पहचानने, समझने और हासिल करने से वंचित करती है। वेद, उपनिषद्, पुराण, नाथ-सम्प्रदाय, सूफी सम्प्रदाय, प्रेम/आनंद/भक्ति आधारित संप्रदाय, दक्षिण भारत के आलवार संप्रदाय, नयनार संप्रदाय, लिंगायत, वारकरी, पंचसखा परम्परा, आदि अनेकानेक संप्रदायों और संतों ने इसी दर्शन को सामने लाया। इस दर्शन पर आधारित समाज कैसा होगा? संत रैदास ने नीचे दिए पद में बेगमपुरा का वर्णन “कोई गम (दुःख) न हो, सब बेगम हो” इन शब्दों में किया है—

अब हम खूब वतन घर पाया, ऊंचा खेर सदा मेरे भाया
बेगमपुर सहर का नाम, फिकर अंदेस नहीं तेहि ग्राम
नहीं जहाँ सांसत लानत मार, खैफ़ न खतान तरस जवाल
आव न जाव, रहम औ' सूद, जहाँ गनी बसे माबूद

जोई सैली करें सोई भावें, महरम महल में को अटकावें
कहि रैदास खलास चमारा, जो उस सहर सो मीत हमारा।

और

ऐसा चाहौं राज मैं, जहां मिले सबन को अन्ना।
छोट बड़ो सभै सम बसैं रैदास' रहें प्रसन्ना।

तो कबीर कहते हैं—

जिस नगरी में दया धर्म नहीं, उस नगरी में रहना क्या रे।
रुखा-सुखा गम का टुकड़ा, चिकना और सलौना क्या रे ॥

कबीर के नीचे दिए पद में समाज की पूर्ण इकाइयों की व्यवस्था का संकेत भी हैं...

हम सम कौन बड़ा परिवारी।
सत्य है पिता, धर्म है भाई, लज्जा है महतारी,
सील बहन संतोस पुत्र है छिमा हमारी नारी।
आशा सासू तृष्णा है सारी, लोभ मोह ससुरारी,
अहंकार है ससुर हमारे, सो सबमें अधिकारी।
ज्ञानी गुरु विवेक चेला, सदा रहें ब्रह्मचारी,
काम क्रोध दोऊ चोर बसत है, तिनका भय है भारी।
मन दीवान सुरती है राजा, बुद्धि मंत्री है भारी,
सत्य धर्म के बसै नगरिया, कहहीं पुकारे कबीरा।

आमिर खुसरो और बासवन्ना जैसे संतों ने दरबारी पदों पर रहते समाज में इन विचारों का प्रसार किया। कर्णाटक के संत बासवन्ना ने 'कल्याणपुरी' नाम से एक ऐसे समाज-संगठन की अवधारणा रखी जो मनुष्य के 'कायक' (कर्तव्य), 'प्रसाद' एवं 'दसोहा' से स्थापित होगी। 'कायक' का अर्थ है सही कर्म, 'प्रसाद' यानि सही उपयोग(भोग) और 'दसोहा' यानि संपत्ति का न्यायोचित वितरण। कल्याणपुरी में बिना किसी भेदभाव के अमीर-गरीब, सभी जाति के स्त्री-पुरुषों का कल्याण होगा। उन्होंने 'अनुभव मंडपम' नाम से जगह-जगह स्थान बनवाएं जहाँ सभी जातियों के स्त्री-पुरुष, सामान्य लोग दार्शनिक वार्ताओं में शामिल होते और

जगत-जीवन की व्यापकता को महसूस करते तथा मनुष्य के कर्तव्यों का दिशाबोध पाते। किसान, कारीगर, नाई, सोनार, लोहार, बुनकर, धोबी, चर्मकार, रंगरेज, कुम्हार, बढ़ई, मल्लाह आदि सभी अनुभव मंडपम की दार्शनिक वार्ताओं में हिस्सा लेते थे। समाज के लिए ज़रूरत है सभी जीवों से दयालुता और करुणा का व्यवहार करना, सादगी का जीवन जीना, जीवनयापन के लिए ईमानदारी से व सही तरीकों से कमाई करना, केवल अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि सभी लोगों के कल्याण का जीवन जीने का प्रयास करना, विवादों को संवाद से हल करना न कि हिंसा से। यह 'स्वराज' का एक चित्र है।

तुलसी ने ऐसे समाज को रामराज नाम दिया और वर्णन किया है...

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हिना ॥
 अल्पमृत्यु नहीं कवनिउ पीरा । सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ॥
 दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥
 सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

और यह भी...

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सोई नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

गाँधी स्वराज निर्माण की क्रियाओं में सात सामाजिक पापों से बचने की बात करते हैं, वे हैं...

सिद्धान्त विहीन राजनीति, श्रम विहीन सम्पदा,
 विवेक विहीन मनोरंजन, चरित्र विहीन ज्ञान,
 नैतिकता विहीन व्यापार, मानवता विहीन विज्ञान,
 त्याग विहीन पूजा।

उनके द्वारा बताये एकादश व्रतों का पालन इन पापों से मनुष्य और समाजों को दूर रखने में सहायक है।

II. स्वराज की राज परम्परा

स्वराज शब्द का इस्तेमाल पहली बार कब हुआ यह तो जाँच का विषय है लेकिन स्वराज जैसी वितरित सत्ता की राज-व्यवस्थाएँ कुछ अपवादों को छोड़ हर काल में हमारे देश में रहीं ऐसा इतिहासकार और विचारक मानते हैं। इन राज

व्यवस्थाओं का पूरा-पूरा चित्र तो नहीं मिलता लेकिन कुछ प्रमाणों से स्पष्ट संकेत ज़रूर मिलते हैं। जैसे राजाओं के पास पूर्णकालिक सेना होने के प्रमाण नहीं मिलते या बहुत कम मिलते हैं। युद्ध यह हमेशा होने वाली घटना या आशंका नहीं थी संकट के समय कुछ लोग अपने-अपने जीवनयापन के उद्यमों को छोड़कर सेना में शामिल होते और युद्ध समाप्त होने पर वापस अपने उद्यम में लग जाते। साधु (भगत) वर्ष में एक दो बार परिवार में आकर गृहस्थी के कार्यों में हाथ लगाते। सामान्यतः लोक जीवन चलता रहता। प्रसिद्ध इतिहासकार डी.डी. कोसंबी कहते हैं कि ऐसा भी होता रहा कि खेतों में किसान काम करते और थोड़ी दूरी पर दो राजाओं की सेनायें आपस में लड़ती होतीं। यानि आम प्रजा पर इस घटना का बोझ न होता। राज-व्यवस्था कुछ इस तरह संगठित की जाती रही जिसमें राजा के पास सारे अधिकार नहीं सौंप दिये जाते रहे। ज्ञान, शिक्षा, न्याय, चिकित्सा, निर्माण, उद्यम और सामाजिक/सांस्कृतिक गतिविधियों आदि के क्षेत्र गाँव-गाँव स्तर पर प्रजा स्वयं संगठित व संचालित करती रहीं। इतना ही नहीं गाँव, धर्म, सामाजिक गतिविधियाँ एवं व्यवहार, आदि मामलों में राजा की सीधे दखल नहीं रही। राज्य की भौगोलिक सीमार्यें बदलती रहीं, राजवंश बदलते रहे लेकिन राज्य का चरित्र इसी समाज-संगठन व सञ्चालन को निखारने में देखा गया। **स्थान व कार्य-क्षेत्र के हर आयाम पर पंचायतों का गठन और इनके स्वायत्त अस्तित्व की मान्यता में यहाँ राज्य की वितरित सत्ता का आधार था।**

ज्ञात इतिहास में कम-अधिक पैमाने में ऐसी ही व्यवस्थायें भारत के भू-भाग पर बनी रहीं और इनके बल पर यहाँ की सभ्यता ने आकार लिया। मनुष्य ने सक्रियता के वे उच्चतम शिखर हासिल किये, जिनके अवशेष आज भी हम देखते हैं। ऐसी व्यवस्थाएं लगभग अंग्रेजों के आने के समय तक अस्तित्व में रहीं; इस बात के सबूत अंग्रेजों की कई रिपोर्टों में हैं। अंग्रेजों ने अपना राज कायम करने से पहले 18वीं सदी में भारत के कई क्षेत्रों जैसे मद्रास प्रेसीडेंसी, बंगाल और बिहार, पंजाब, में सर्वेक्षण करवाये और उस समय की शिक्षा, उद्योग, कृषि, चिकित्सा, तकनीकी आदि की व्यवस्थाओं का अध्ययन किया तथा विस्तृत रिपोर्टाज़ बनाये। इन सर्वेक्षणों और अध्ययनों की रिपोर्टों के आधार पर 18वीं सदी में भारत के समाज-

संगठन का जो चित्र उभरता है उसे कुछ इतिहासकारों ने सामने लाया है, जो हमारी ऊपर लिखी बातों की पुष्टि करता है। यह एक वितरित सत्ता का चित्र है। जिसकी एक झलक हम यहाँ रखना चाहेंगे।

(क) **गाँव, कृषि और उद्योग** : अंग्रेजों ने यहाँ के गाँव, कृषि और उद्योगों का अध्ययन बहुत विस्तार में किया। तमिलनाडु में चेंगलपट्टू नाम के क्षेत्र में (अभी का कांचीपुरम जिला और थिरूवल्लूर) के लगभग 2138 गाँवों के सर्वेक्षण की मेजर क्रिश्चन बर्नार्ड द्वारा लिखी वर्ष 1763 की एक विस्तृत रिपोर्ट है। उसी तरह 1795-96 की कप्तान थोमस हल्कोट, 1878 की ए.के. ह्यूम और 1890 की जान आगस्टस वोइलकर की रिपोर्ट्स हैं, जिनमें भारत के किसानों के ज्ञान और कार्य की बहुत प्रशंसा की गई है। इनमें किसानों के बीज, खाद, फसल, सिंचाई, उपकरण, पशुओं और खेती की व्यवस्थाओं को बेहतरीन बताया है और कहा है कि इन सब में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है।

लेकिन अंग्रेज सरकार को इंग्लैण्ड के उद्योगों और कारखानों के हित में भारत की खेती का संगठन कुछ इस प्रकार बदलना था, जिससे भारत के खेतों में इंग्लैण्ड के कारखानों के लिए अधिक से अधिक कच्चा माल पैदा हो और इंग्लैण्ड के रासायनिक उद्योग के लिए बाज़ार भी मिले। अंग्रेजों के आने के बाद ही हमारे यहाँ बड़े पैमाने पर कपास, अफीम, चाय, नील, रबर, गेहूँ की व्यावसायिक खेती शुरू हुई। इसके पहले खेती मुख्यतः अन्न, कपास और जीवनोपयोगी सामानों को पैदा करने का उद्यम रही।

अंग्रेजों की उपरोक्त रपटों में भारत के सामान्य किसान के ज्ञान का जो वर्णन मिलता है, उससे तकनीक, बीज, फसलें, खाद, इंधन, भण्डारण-वितरण, कर, जल-व्यवस्था, आदि के बारे में गाँवों का एक ऐसा चित्र उभरता है जिसमें उत्पादन, वितरण, और भोग के हर चरण पर स्वराज का दर्शन होता है। **खेती-किसानी-उद्योग के इर्द-गिर्द समाज-संगठन का ऐसा रूप खिलता जाता दिखाई देता है, जिसमें मनुष्य जीवन की भौतिक व आध्यात्मिक गतिविधियों और आवश्यकताओं का 80-90 फीसदी स्थानीय स्तर पर ही पूरा हो जाये। ये एक ऐसे गाँव का चित्र खड़ा करते हैं, जिसमें अनेक ज्ञानी और कर्तृत्ववान लोग रहते हैं, जो मिलकर इन आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। शोध, प्रयोग,**

सलाह, विवेचन, विमर्श, शिक्षा आदि अनेक चरणों से गुजरता यह सृजन स्वराज दर्शन के बुनियादी मूल्यों के आधार पर समाज के संगठन और सञ्चालन के रूप को आकार देता है। जिस क्षेत्र में जैसी मिट्टी, पानी, मौसम और संसाधन की प्राकृतिक स्थितियाँ रहीं उसी के अनुसार उत्पादन के प्रकार, ज्ञान की विशिष्टता और समाज संगठन और सञ्चालन के प्रकार भी तय होते रहे। समाजों में विविधता और विशिष्टता बनी रही।

इतिहासकार और समाज विचारकों के अनुसार भी 18वीं सदी में अंग्रेज़ अधिकारियों की रिपोर्टें यह कहती हैं कि 18वीं सदी के भारत के किसान की आय इंग्लैंड के किसान से अधिक थी। वर्ष 1750 और 1800 के करीब यूरोप के अलग-अलग देशों में किसानों से 50 से 80 फीसदी उत्पादन ले लिया जाता था। इन्हीं वर्षों में बंगाल में अंग्रेजों ने ज़मींदारी स्थापित की जहाँ तर्क यह दिया गया कि भारत के किसान का हक इंग्लैण्ड के किसानों के हक से ज्यादा तो नहीं हो सकता, यानि किसानों से उपज का आधा हिस्सा लेने में कोई गलत न होगा। जबकि इसके पहले के ज़माने में जहाँगीर के समय भी उपज का 5 फीसदी ही किसानों से लिया जाता था। औरंगज़ेब के ज़माने में भी 20 फीसदी से अधिक न था। 15वीं सदी तक भारत में कई इलाकों में भूमि कर था ही नहीं और था भी तो बहुत कम। बंगाल में अंग्रेजों के पहले खेती की आधी उपजाऊ ज़मीन से कोई कर नहीं दिया जाता था। इस आधी उपज से प्राप्त आमदनी को स्थानीय व्यवस्थाओं जैसे सिंचाई, सुरक्षा, धर्मशाला, मंदिर, धार्मिक व सांस्कृतिक आयोजन, शिक्षा, चिकित्सा आदि पर और इन व्यवस्थाओं को संचालित करने वाले परिवार/समाजों पर खर्च किया जाता, जो कुल उपज का 25 से 30 फीसदी होता था; शेष भाग ऊपर के स्तरों पर जाता था और अंत में बचा-खुचा स्थानीय राजा और आगे दिल्ली की सल्तनत को जाता था। (सन्दर्भ : विद्या आश्रम का प्रकाशन, स्वराज पुस्तकमाला-1 “स्वराज पर विमर्श के सन्दर्भ” 2017, पृष्ठ 2-5)। यह भी कि भारत के कई इलाकों में ऐसे गाँव थे जहाँ उपजाऊ ज़मीन का कुछ वर्षों की अवधि में गाँव के किसान परिवारों में पुनर्वितरण होता था। पुनर्वितरण 3 वर्ष से लेकर 30 वर्षों में होता पाया गया है। ऐसे गाँवों को उत्तर भारत में भाईचारा गाँव कहा जाता था, दक्षिण भारत में इन्हें ‘मन्यम’ कहा जाता था।

भारत में उद्योगों का उत्पादन कलात्मक और उच्च गुणवत्ता का होता रहा। इतना ही नहीं, दुनिया के कुल औद्योगिक उत्पादन में इसका हिस्सा किसी भी यूरोप के देश से ज्यादा था। अंग्रेज़ अधिकारी जार्ज बर्डवुड, जो अंग्रेज़ सरकार की अनेक संस्थाओं/विभागों में अधिकारी रहे, की 1880 में एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने यहाँ के उद्योगों का बखान किया है। ये उद्योग छोटी-छोटी इकाइयों में होते रहे। अंग्रेज़ सरकार ने अपने कारखानों के उत्पाद की बिक्री के लिये इन्हें उजाड़ दिया। बड़े कारखानों को स्थापित करने में सहयोग दिया। इसके चलते किसानों की ही तरह बहुत बड़े पैमाने पर कारीगर अपने उद्योगों से बेदखल हो गए। कारीगर समाजों को बहुत बड़े पैमाने पर मज़दूर बना दिया गया। जितने मज़दूरों को नए स्थापित कारखानों में काम मिला उससे कई गुना लोग बेरोजगार हो गये। आज़ादी के बाद यही नीति जारी रही और आज भी है।

गाँव और समाजों के हित में काम कर रही कृषि और उद्योगों की व्यवस्था को अंग्रेज़ों ने बल पूर्वक ध्वस्त कर ज़मींदारी व्यवस्था स्थापित की और कर का बोझ बढ़ाकर (उपज का 50-80 प्रतिशत) किसानों की ज़मीने हड़पने का आधार बनाया, किसानों को ज़मीनों से बेदखल किया। अंग्रेज़ों के पहले किसान को ज़मीन से बेदखल नहीं किया जा सकता था। यह इंग्लैण्ड और यूरोप में औद्योगीकरण को तेज़ करने के लिए हुआ था। आज़ाद भारत में लोकतंत्र के तहत भी यही प्रक्रिया चलती रहीं, देश में औद्योगीकरण को तेज़ करने के लिए किसानों पर बोझ बढ़ाया जाता रहा, गाँव हर तरह से गरीब होते चले गए, अपने दर्शन, सम्पत्ति और समृद्धि को खोते चले गये। गाँवों के अन्दर कानून और बल के सहारे दिल्ली की केन्द्रीय राजसत्ता की दखल हर क्षेत्र में बढ़ती ही चली गई और अब यह दखल परिवार और खुद मनुष्य के शरीर तक पहुँच चुकी है। परिणाम सामने है कि (यह लिखते वक़्त) आज हजारों लाखों किसानों का ऐतिहासिक आन्दोलन देश की राजसत्ता को झकझोर रहा है। नवम्बर वर्ष 2020 से किसान दिल्ली को घेर कर बैठे हैं। यह केन्द्रीय सरकारों की अनैतिक नीतियों का ही परिणाम है।

अंग्रेज़ों की रिपोर्टों के अनुसार गाँवों में जल व्यवस्था के लिए पोखरे और तालाबों का निर्माण और देखभाल गाँव वाले ही करते थे। कहीं-कहीं ये बहुत अदभुत हैं व कला और तकनीकी की दृष्टि से अद्वितीय हैं। सिंचाई और पेय जल की

व्यवस्था और देख-रेख के ज्ञानी गाँव में ही रहते थे। उपजाऊ और बंजर ज़मीनों की नपाई व लेखा-जोखा, सिंचाई, फसलों की सुरक्षा और ज़मीनों से सम्बंधित विवादों का निपटारा आदि कार्य गाँव के ही लोग करते थे। इतिहासकार कहते हैं कि महाराष्ट्र में यह काम महार जाति के लोग किया करते थे। भारत के अलग-अलग हिस्सों में ऐसी जातियां मिलती हैं, जो ये काम करती रहीं। देश के हर हिस्से में जल संचय की समृद्ध परम्परा रही; कुँए, तालाब, बावड़ी, और सिंचाई के निर्माण के तथा देखभाल, प्रबंधन और सञ्चालन के कारगर ढंग रहे, इसके प्रमाण भी हैं।

इतिहासकारों के अनुसार कृषि में लगने वाली तकनीक, प्रक्रिया, उपकरण, उपयोगिता और गुणवत्ता को जांचने, परखने, और तय करने के लिए केन्द्रीय सत्ता की दखल नहीं थी। आज भी ऐसे लोग मिलते हैं जो धरती के नीचे जल कहाँ मिलेगा, कुआँ बनाने के लिए कितनी खुदाई की ज़रूरत होगी आदि बताने का ज्ञान रखते हैं। इतिहासकार यह मानते हैं कि 1830 में दुनिया के औद्योगिक उत्पादन में भारत और चीन का औद्योगिक उत्पादन मिलकर 60 प्रतिशत से ज्यादा था। उद्योगों की वितरित व्यवस्थाओं ने जहाँ वस्तुओं की खपत को लोकोपयोगी बनाकर रखा वहाँ ये भी कि कारीगरों को पर्याप्त रोज़गार मुहैया कराये। इससे यह साबित होता है कि पर्याप्त उत्पादन केवल साइंस और आधुनिक टेक्नोलॉजी पर निर्भर नहीं हैं। व्यापार और अन्य देशों से संपर्क भी बहुत उन्नत रहा लेकिन वह भी वितरित सत्ता पर ही रहा। आज समाज के नवनिर्माण में हमारे समाजों के ज्ञान, समाज-संगठन और राजसत्ता के ऐसे प्रकारों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करना बहुत उपयोगी साबित होगी।

कुल मिलाकर सामान्य जीवन में राज्य की दखल बहुत मामूली रही और प्रजा समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में हर स्तर पर अपने ज्ञान, श्रम और भाव के साथ सक्रिय और सक्षम थी। हमारे देश में राज्यसत्ता किसी एक ही जाति के पास रहीं हो ऐसा तो ज्ञात इतिहास में किसी भी काल और क्षेत्र में दिखाई नहीं देता। ज्यादातर राजा किसान, कारीगर अथवा आदिवासी जातियों के ही रहे हैं और उन्हीं के काल में समाजों ने हमारी गौरवशाली संस्कृति को गढ़ा है। इंग्लैण्ड के राजाओं की तुलना में भारत के राजाओं का रहन-सहन और जीवन शैली समाज के अधिक

करीब और कम खर्चीली रही। महलों और किलों में सार्वजनिक स्थान अधिक थे और राजा के निजी परिवार के स्थान सीमित होते थे।

(ख) ज्ञान : अंग्रेजों की इन रिपोर्ट्स में यह खुलकर सामने आता है कि पहले गाँव ज्ञान के गढ़ थे। जीवन की हर ज़रूरत को पूरा करने के लिए ज्ञान, वित्त अथवा संसाधनों के लिए आज की तरह उन्हें राजसत्ता की ओर देखना नहीं पड़ता था।

ज्ञान की सत्ता भी एक या कुछ ही जातियों अथवा संस्थाओं में केन्द्रित नहीं रही। मनुष्य गतिविधि के हर क्षेत्र का ज्ञान अलग-अलग समाजों के पास रहा और हर यह ज्ञान अपने में एक सम्पूर्ण विश्व था; यानि वे न केवल उस ज्ञान की मूर्त क्रियाओं के जानकार और विशेषज्ञ होते बल्कि उस ज्ञान के मार्फत वे अपनी एक विश्वदृष्टि (दर्शन) भी बनाते जिसमें दुनियावी/गैर-दुनियावी शक्तियों व संबंधों के साथ उनके ज्ञान, कर्म और कर्तव्यों की भूमिका की व्याख्या व मीमांसा भी करते। ये मीमांसा/व्याख्या उनके ज्ञान और तकनीक की ही तरह निरंतर नवीन होती रहती। आज भी हर कारीगर और कलाकार अपने कार्य में ही अपने भगवान/खुदा/(अज्ञात शक्तियों के) होने की बात करता है। अगर गहराई में देखें तो हर समाज के पास शरीर, स्वास्थ्य रक्षा व चिकित्सा की अपनी अलग समझ, सिद्धांत और प्रणाली नज़र आएगी। इतना ही नहीं, अपने ज्ञान आधारित कार्यों की वजह से होने वाले रोग अथवा सामान्य शारीरिक रोगों की दवा ये समाज अपने-अपने ज्ञान क्षेत्र में उत्पादन में लगने वाले कच्चे माल, प्रक्रियाओं के उत्पाद अथवा उनके अवशेषों से करना जानते थे। इसलिए शारीरिक रोगों के बारे में समाज में एक साथ कई औषधियों का ज्ञान रहता था। हर समाज के अपने देवता रहे और इनकी पूजा और पूजा के निमित्त निबाहने की ज़िम्मेदारी किसी पंडित को नहीं बल्कि अपने ही समाज के किसी सदस्य को सौंपी जाती रही। हर समाज के अपने कई गुरु होते रहे (आज भी समाजों में ऐसा ही है), जो उस समाज की विश्वदृष्टि (दर्शन) को निखारते हैं। संत परम्परा ऐसे ही ज्ञान का बहता झरना रही है। यहीं नहीं, विचारक और मनीषियों ने यह भी सामने लाया है कि वेद-उपनिषदों को लिखने वाले और बाद के कालों में तकनीक, शिल्प, कला-साहित्य, गणित आदि क्षेत्रों में सिद्धांत रचना और सृजन में केवल ब्राह्मण ही नहीं रहे, बल्कि अनेक जातियों के ज्ञानी रहे।

गांधीजी ने इसी समझ के आधार पर यह कहा था कि 'स्वराज' यह समुद्र के तल पर उठती, निरंतर पसरती और एक दूसरे में मिलती-जनती-पनपती लहरों की तरह होगा, जहाँ अपने-अपने घेरे भी हैं और सम्पूर्ण सागर का समग्र एहसास भी तथा उससे अभिन्न/एक होने की समझ भी। इसी समझ के आधार पर उन्होंने आज़ाद भारत के लिए शिक्षा के संगठन में इस बात की वकालत की थी कि बालक के परिवार में जो उद्यम है उसके विभिन्न पक्षों का सहारा लेकर देश की समाज-नीति, आर्थिकनीति, राजनीति, प्रशासनिक-नीति, शिक्षा-नीति आदि की समझ बनाने पर जोर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार नीतियों की समझ न सिर्फ़ ज़मीनी ठोस आधार पर होंगी बल्कि उन्हें बनाने, संशोधित करने अथवा बदलने में हर नागरिक की भागीदारी उसके ज्ञान के साथ सुनिश्चित होगी। इस प्रकार से शिक्षित बालक 'स्वराज' को साकार करेंगे। नई तालीम ने ऐसी ही शिक्षा की वकालत की।

आज भी हम पाते हैं कि इतनी टूट-फूट के बावजूद अनेक समाजों में इस दर्शन, ज्ञान और ढाँचे के अंश और इसके जानकार मिलते हैं। इसी परंपरा में लोकविद्या जन आन्दोलन यह विश्वास करता है कि देश का अज़ेंडा जब तक किसान, कारीगर, आदिवासी समाज मिलकर नहीं बनायेंगे तब तक समाज, जनता और देश खुशहाली के रास्ते पर कदम नहीं बढ़ा पायेंगे।

ऐसे समाजों में जहाँ ज्ञान की सत्ता भी समाज में वितरित रही हो, निर्णय स्थानीय सृजनकर्ताओं और उपभोक्ताओं के हाथ रहता है तथा बाहरी विशेषज्ञों अथवा केन्द्रीय राजसत्ता/प्रशासन की दखल सामान्यतः अनधिकृत हो जाती है। यह सोच स्थाई भाव (स्वभाव) बन जाता है कि एक ही वस्तु को बनाने के, एक ही कार्य को करने के अथवा एक ही मंजिल पर पहुँचने के लिये ज्ञान के कई प्रकार होते हैं और उनमें कोई ऊँच-नीच नहीं होती। स्वराज का बुनियादी आधार इस भाव में है। यह 'स्वभाव' प्राप्त करना ही सत्याग्रह का मार्ग है।

वर्ष 1993 से 1998 के बीच मद्रास के, 'देशभक्त एवं लोकोन्मुख साइंस और तकनीकी (पी.पी.एस.टी.)' के नाम से कार्य कर रहे एक समूह ने भारत की साइंस और तकनीकी की परम्पराओं पर तीन बड़े-बड़े सम्मलेन (हज़ार से अधिक लोगों की भागीदारी के साथ) किये। बंबई (1993), मद्रास (1995) और बनारस

(1998) में हुये इन सम्मेलनों में भारत की ज्ञान परम्पराओं के शास्त्रीय और लोकपक्ष को उजागर करने के प्रयास इस 'स्वभाव' को उजागर करने के ही प्रयास रहे। दर्शन, कृषि, चिकित्सा, धातुकी, लौह आगलन, जलप्रबंधन, वस्त्र, वास्तु, कला, शिक्षा, चिकित्सा आदि मनुष्य गतिविधि के बहुआयामी कार्यों की जीवंत ज्ञान परम्पराओं और उनके समाज से रिश्तों पर हुए चिंतन को पेश किया। शोध और चिंतन पर आधारित अपने लेखों, प्रस्तुतियों से और अनेक समाजों से आये ज्ञानियों ने इन परम्पराओं की जीवंतता, प्रासंगिकता और एक बेहतर समाज बनाने की क्षमता को सामने लाया। इन अखिल भारतीय सम्मेलनों में यह बात भी सामने आई कि भारत की ज्ञान परम्पराओं में तर्क, मूल्य और सत्ता के प्रकार साइंस से अलग रहे हैं, जिनके चलते समाज संगठन के प्रकार भी अलग रहे। आधुनिक साइंस के सिद्धांत मनुष्य स्वतंत्र, मूल्य स्वतंत्र हैं इसलिए संवेदनरहित हैं। जबकि भारत की ज्ञान परम्पराओं में तर्क, सत्ता और मूल्य भी संवेदना(भाव) से सिंचित रहे हैं। यहाँ की ज्ञान परम्पराएँ किसी भी वस्तु, क्रिया अथवा घटना को उसके समग्र दृश्य-अदृश्य जगत से रिश्तों के साथ और निरंतरता के मार्फत समझने पर जोर देती रही है, जबकि साइंस में विषय वस्तु को बाहरी सभी संबंधों से अलग कर केवल 'आंतरिक संगठन' की समझ बनाने पर जोर है। इस भिन्नता के चलते मनुष्य की विश्वदृष्टि ही अलग-अलग बनती है।

(ग) शिक्षा : 20 अक्तूबर 1931 को गांधीजी का लन्दन की रायल इंस्टिट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स में भाषण हुआ था, जिसमें उन्होंने कहा कि पिछले 50 से 100 वर्षों के दौरान भारत में साक्षरता घट गई है और इसके लिए अंगरेज शासन जिम्मेदार है। कहते हैं कि इस टिपण्णी से अंगरेज सरकार के हलकों में तहलका मच गया। गांधीजी से सबूत मांगे जाने लगे। उस समय तो आन्दोलन और फिर गिरफ्तारी के चलते वे इसके सबूत नहीं दे पाये, लेकिन उन्होंने सबूत जुटाने की जिम्मेदारी कुछ विद्वानों को दी। बाद में इस बात के सबूत खुद अंगरेज अधिकारियों की कुछ रिपोर्टों में पाये गए। 1796 की फ्रा पाओलिनो दा बार्तोलोमियो की "भारत में बच्चों की शिक्षा", 1820 में अलेक्जेंडर वाकर का "भारतीय शिक्षा, साहित्य आदि", 1822-26 में "मद्रास प्रेसिडेंसी के देशज शिक्षा का सर्वेक्षण", 1835-38 की डब्लू. एडम्स की "बंगाल में शिक्षा की स्थिति", 1882 में जी.डब्लू. लाईटनर की "पंजाब में शिक्षा का इतिहास : कब्जे के समय से

1882 तक” जैसी रिपोर्टों में उस वक़्त प्रचलित व्यापक शिक्षा के बारे में भरपूर जानकारी मिलती है। इन रिपोर्टों के अनुसार हर गाँव में एक स्कूल था। स्कूलों में लिखने, पढ़ने, शिल्प (किसानी, कारीगरी भी) आदि सभी विषयों का व्यवस्थित पाठ्यक्रम था। विद्यार्थियों की संख्या भी कम न थी, सभी जाति के छात्र थे, कहीं कहीं लड़कियां भी संख्या में थीं। इन रिपोर्टों को सार्वजनिक करने की आज ज़रूरत है। वितरित सत्ता के आधार पर प्रभावी ढंग से संचालित ये विद्यालय कैसे थे यह जानना आज भी प्रासंगिक है।

इन विद्यालयों के प्रति अंग्रेजों की नीति क्या थी? इसे गांधीजी ने उसी भाषण में स्पष्ट किया, कहा “... अंग्रेज़ प्रशासकों ने, जब वे भारत आये, यहाँ जैसी व्यवस्थायें थीं उन्हें वैसे नहीं रहने दिया बल्कि उन्हें उखाड़ दिया। उन्होंने ज़मीन को खोदा (इन व्यवस्थाओं को समझने के लिए) और जड़ों को देखना जारी किया और फिर उन्हें वैसे ही सूखने के लिए छोड़ दिया।” (व्यवस्थायें मर गईं)।

1962 में इतिहासकार धरमपाल की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें 18वीं सदी में भारत में जीवंत ज्ञान और तकनीकी के बारे में विस्तृत प्रमाण और जानकारी संकलित कर उसकी व्याख्या की गई है। उनकी दूसरी पुस्तक “भारत में शिक्षा का सदाबहार वृक्ष” में अंग्रेजों द्वारा लिखी गई उपरोक्त रिपोर्टों की विषद् व्याख्या है, जो गांधीजी के 1931 के लन्दन में दिए गए वक्तव्य की पुष्टि करती हैं।

(घ) कला : स्वायत्तता, वितरित सत्ता अथवा स्वराज के विचार को कला प्रखरता से प्रकट करती है। हमारी परंपराओं में कला मन को रिझाने के लिए ही नहीं बल्कि जीवन और ज्ञान को नवीन और नैतिक बनाने का एक महत्वपूर्ण साधन रही। कला विचारक मानते हैं कि संगीत, नाटक, सिनेमा और वास्तु कला-सृजन के ऐसे प्रकट उदहारण हैं, जिनमें कला की अनेक विधायें, प्रकार, शैली और साधन आदि एक साथ आकर अपनी स्वायत्त सत्ता और विशिष्टता को एक दूसरे में समर्पित करती हैं। तथापि अंतिम कृति में उनकी हरेक की सत्ता का एहसास/अस्तित्व बना रहता है और साथ ही उस पूरे विश्व (सृजनकर्ताओं से इतर मनुष्य, प्रकृति और अज्ञात भाव संसार) को प्रकट और शामिल कर लेती हैं, जिसकी सृजन पूर्व कोई प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं होती और न जान-पहचान होती है। यह अद्भुत है, विलक्षण है। इसी में कला का उच्चतम चरण या चरम है कि वह अपने साथ पूरे विश्व (जड़-

चेतन) को स्थान, काल की सीमाओं से लाँघ कर उत्सर्ग की ओर ले जाये। संत यही कार्य करते हैं और एक कलाकार भी यही कार्य करता है। एक समाज निर्माता भी यही करता है। भोजन बनाने की कला (पाक कला) में भी यही होता है। हमारे समाजों में कला को ज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया। यहाँ 'सृजन' यह मात्र 'निर्माण' नहीं माना गया, इसे 'सत्य, शिव(नैतिक), सुन्दर' एक साथ होना है। अन्य जीवों से अलग मनुष्य की बुनियादी पहचान 'सृजनकर्ता' के रूप में मानी गई है।

किसी भी क्षेत्र में मनुष्य की गतिविधियों को 'सृजनकर्ता' के रूप में देखने का मतलब है उसके ज्ञानी होने की मान्यता देना, उसकी स्वायत्त सत्ता को स्वीकार करना और उसका सम्मान करना। कला मर्मज्ञ निहारंजन राय के अनुसार स्त्रियाँ, किसान, कारीगर, आदि सभी समाज 'सृजनकर्ता' ही होते हैं, वे 'विधाता' के रूप में हैं। भारत की कलाओं के विद्वान अध्ययनकर्ता और जानकार आनंदकुमार स्वामी ने 1910 में इलाहाबाद में हुये पाँचवे औद्योगिक सम्मलेन में भारत की कलाओं पर 'स्वदेशी, सत्य और असत्य' नाम से एक विस्तृत लेख प्रस्तुत किया था, जिसमें भारत के कला और उद्योगों के 'सृजनकर्ताओं' के ज्ञान की गहराई को खोलकर सामने रखा और यूरोप के उद्योगों ने किस तरह इन्हें तबाह कर दिया यह भी बताया। इस लेख में उन्होंने यह याद भी दिलाया कि जार्ज बर्डवुड (1830-1917) ने 1880 में ही लिखा था कि 'भारतीय स्त्री-पुरुषों को इस संकल्प को अपनी संस्कृति का अंग बना लेना चाहिए कि वस्त्र, आभूषण आदि अनिवार्यतः स्थानीय स्तर पर बनाये जाये और उनके डिजाइन भी स्थानीय ही हों'। जार्ज बर्डवुड ने भारत के उद्योगों की कलाओं का गहराई से अध्ययन किया और विस्तार से लिखा। उनके अनुसार भारत में 'फाइन आर्ट' (जैसी कोई श्रेणी) नहीं है, और सामान्य जीवन में आवश्यक उपयोग के सृजन और दैनिक कार्य भी उच्च नफासत और पवित्र भाव से किये जाते हैं।

हमारे यहाँ कला में भेद/विश्लेषण की दृष्टि को नकारा गया है। कला विचारक कहते हैं कि यहाँ 'शास्त्रीय कला' नाम की कोई कला परम्परा नहीं रही। सिद्धांत और प्रस्तुति को अलग करके नहीं देखा गया और न ही जीवनावश्यक वस्तुओं के निर्माण के उद्योगों को कला कर्म से अलग अथवा कम आँका गया। ये सब उत्पादन क्रियाएं कलाकर्म ही मानी जाती रहीं। ज्ञान और कला अलग नहीं रहे।

इन्हें कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प उद्योग, लोक कला अथवा देसी कला, ये नाम तो 20वीं सदी में दिए गए जिससे उन्हें बड़े उद्योगों से भिन्न और साइंस से छोटा/हेय दिखाया जा सके।

औद्योगिक युग धन/संपत्ति के संग्रह का शैतानी दौर रहा। अंग्रेजी राजसत्ता ने खेती व उद्योग से किसानों और कारीगरों को बेदखल कर उन्हें मजदूर बनाने की आर्थिक और राजनैतिक नीतियों को बलपूर्वक, न्यायालय और पुलिस के सहारे लागू किया। वकील और न्यायधीश समाज से दूर, राजसत्ता के विशेष कृपा पात्र रहे। कारखानों की मशीनों के सिद्धांत बनाने वाले, उनका अध्ययन करने और उनकी कार्य क्षमता को बढ़ाने वाले वैज्ञानिक हो गये; मशीन की देखरेख, मरम्मत और उसके स्वभाव को जानने वाले इंजीनीयर या तकनीशियन हो गये। लेकिन मशीनों पर काम करने वाले मजदूर मशीन के पुर्जों की तरह ही ज्ञान रहित माने गये। ऐसे विभाजन आधुनिक ज्ञान (साइंस) की हर शाखा में पैदा हो गये और समाज में भी उससे मेल खाने वाली ऊँच-नीच दिखाई देने लगी। 'विकास' अथवा 'प्रगति' के परदे में यह ऊँच-नीच दिन-ब-दिन तेज़ गति पकड़ती चली गई और एक स्थाई सच्चाई का भ्रम देने लगी। गाँधीजी ने इस भ्रम की टाटी को फूंक दिया।

III. लोक परम्परा में स्वराज

हमारे देश की लोक परम्पराओं में वितरित सत्ता के विचारों की पैठ बहुत गहरी है। आधुनिक व्यवस्थाओं और विचारों के नाजायज़ दबावों के बावजूद सामान्यतः भेद/विश्लेषण दृष्टि को लोक में सम्मान नहीं है। इकाई अथवा व्यक्ति को समग्र से अलग करके देखने का चलन अभी भी नहीं है। शायद गाँधी जी की 'स्वराज' की कल्पना (यह समुद्र के तल पर उठती, निरंतर पसरती व एक दूसरे में मिलती-जनती-पनपती लहरों की तरह होगा जहाँ अपने-अपने घरे भी हैं और सम्पूर्ण सागर का समग्र एहसास/बोध और उससे अभिन्न होने की समझ भी) को यहाँ से प्रेरणा मिली हो। पंचायतों की परम्परा में किसी भी व्यक्ति के लिए समाज से निष्कासन की सजा यह सबसे कड़ी सजा मानी गई। व्यक्ति जीते जी इस पूरे महाविश्व से बाहर हो जाता है। आधुनिक शिक्षा, आधुनिक उद्योग और आधुनिक राज्य के मूल्यों के प्रसार माध्यमों के मार्फत बलपूर्वक फैलाव में ये विचार दब तो जरूर गये हैं लेकिन मर नहीं गये। सामान्यतः गाँवों में, किसान, कारीगर और

आदिवासी सामाजों के परिवारों के रोजमर्रा के जीवन में, विशेषकर स्त्रियों के व्यवहार में ये अब भी दिखाई देते हैं। आज दिल्ली में हो रहे किसान आन्दोलन के नेताओं के विचार, संवाद और कार्यशैली में ये कुछ-कुछ झलक रहा है। धैर्य के इस महासागर की शक्ति स्वराज परंपराओं से हासिल बुनियादी मूल्यों में विश्वास के चलते ही है।

सामान्यतः संत वचन और लोकचर्चा में यह विचार बहुत प्रखर है कि यह दुनिया पञ्च तत्वों; मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि (हर तरह की उर्जा), और आकाश से बनी है और अंत में सभी को इसी में मिल जाना है। इस विचार से रोजमर्रा के जीवन को संगठित करने में विश्वास है, प्रयास भी होते हैं, लेकिन लोग इससे भटकते भी रहते हैं। संत परम्परा के दर्शन इस भटकाव को मर्यादित करने के ही विचार हैं। पञ्च तत्वों के इस विचार को कई लोग विशेषतः पढ़े-लिखे लोग भौतिक दर्शन की श्रेणी में रखते हैं। लेकिन यूरोपीय दर्शन की तरह यहाँ दर्शन में भौतिकवाद और भाववाद का भेद नहीं है, वे अलग किये ही नहीं जा सकते यही मान्यता दृढ़ है। ऐसे में जीवन के सञ्चालन और संवर्धन की क्रियाओं, संबंधों और व्यवस्थाओं के निर्माण में कण-कण, जीव-जीव और जन-जन की अपनी पूर्णता (स्वायत्तता) के साथ भागीदारी की कल्पना कर पाना और उसे साकार करने के नये-नये रास्ते खोज पाना संभव हो पाता है। पहले चार तत्वों से भौतिक दुनिया की हर वस्तु निर्मित मानी गई है, जिन्हें हम अपनी आँख, नाक, कान, जीभ और स्पर्श से जान पाते हैं। लेकिन आकाश, जो पांचवां तत्व है, वह सोच, विचार और कल्पना की दुनिया का विस्तार है, भूतकाल के नवीनीकरण और भविष्य के निर्माण की संभावनाओं का विस्तार है। इसका विस्तार किसी भी दूसरे तत्व के विस्तार से बहुत ज्यादा है। यह भाव-विश्व है। यही तत्व है जो मनुष्य को समग्र के साथ संवाद करने और उसके प्रति अपने कर्तव्यों को निबाहने के नित-नवीन विचार, कल्पना और सोच का स्रोत है। मन, दिमाग और दिल के सम्मिलित मेल से ही इस तत्व को जाना जा सकता है। ऐसे में मनुष्य की सोच और आचरण (जीवनयापन) में भौतिक और अ-भौतिक (अज्ञात/निर्गुण) का भेद नहीं हो सकता, जड़ और चेतन में भेद नहीं हो सकता, शरीर और दिमाग में भेद नहीं हो सकता, श्रम और विद्या में भेद नहीं हो सकता, आदि।

याज्ञवल्क्य के अनुसार ...

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

जो विद्या और अविद्या (ज्ञान और कर्म) दोनों को एक ही साथ जानते हैं वे अविद्या से मृत्यु को पार कर (जीवन का सही संगठन कर) विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं।

कबीर के अनुसार –

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोया।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होया।।

चूँकि दुनिया तो इन पंचों (पञ्च तत्व- मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश) ने बनाई मानी गई, इसलिए इनके प्रति जवाबदेही भी है। एकेश्वरवाद-बहुलतावाद, द्वैत-अद्वैत, भाववाद-भौतिकवाद आदि जैसे भेद को कोई स्थान नहीं है। यहाँ विभिन्न धार्मिक विचारों और उनके सगुण/निर्गुण रूपों और प्रतीकों में भेद न कर एक साथ आस्था रखने की परम्परा रही और आज भी देखी जा सकती है। स्वराज के एक रूप, पंचायत-राज की लम्बी परम्परा में ऐसी विश्वदृष्टि का हाथ रहा है। लोकविद्या, लोकस्मृति, लोककथा, कहावत, मुहावरे, कला-साहित्य आदि में यही दर्शन, विचार और उनकी व्याख्यायें मिलती हैं। धरती, पहाड़, नदियाँ, चाँद-तारे, बादल, पेड़, पशु, पक्षी आदि सब से पारिवारिक सम्बन्ध माने गए। सबके साथ संवाद की कहानियाँ इसे वास्तविक बनाती हैं। यह मान्यता बनी कि इन सबसे त्याग, क्षमा, कर्तव्यपालन, ममत्व, उदारता, आदि से पूर्ण ज्ञान को हासिल करना है। रोजमर्रे के जीवन में इनके प्रति प्रेम हो, इन्हें चोट न पहुँचे इसका ध्यान रखना और इनका नाजायज़ इस्तेमाल (केवल अपने स्वार्थ के लिए) नहीं करना चाहिये। इन्हें अपने जन्मदाता और गुरु का ही स्थान देना है।

इन विचारों ने अद्भुत जीवनशैली का विकास किया। हमारे यहाँ जीवन के हर कार्य और क्रिया को करने के तरीकों में भी इंधन (ऊर्जा) और पदार्थों (कच्चे माल) का इस्तेमाल और उत्पादन वितरित व्यवस्थाओं द्वारा ही होने का

आग्रह रहा। अलग-अलग स्थानों/क्षेत्रों पर लोग उत्पादन करें, स्थानीय संसाधनों के इस्तेमाल से करें, कम-से-कम ऊर्जा के मार्फत करें आदि। यह सोचना दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि पहले के ज़माने में आवागमन के साधन न होने की वजह से ऐसे उत्पादन की व्यवस्था ने आकार लिया। लेकिन प्राचीन काल से दुनिया भर में भारत के उत्पादन पहुंचते रहने के प्रमाण मिलते ही हैं। यहीं नहीं दूर दूर के स्थानों पर सामान्य लोगों का आना-जाना भी रहा।

भारत के वैज्ञानिक सी.वी.सेषाद्री ने, जो 1970 में आई.आई.टी. कानपुर में प्रोफ़ेसर रहे और चेन्नई के श्री इ.एम.इम. मुरुगप्पा चेद्वियार शोध केंद्र के संस्थापक निदेशक थे, उन्होंने भारत के ग्रामीण और कारीगरों द्वारा इस्तेमाल की जा रही उत्पादन तकनीकियों का गहराई से अध्ययन किया। उनके अनुसार प्रकृति में लगभग सारे परिवर्तन (क्रियाएं) धीरे-धीरे और कम ऊर्जा-अंतरों (ताप, दबाव, मात्रा) पर होते हैं और इसी सिद्धांत को भारत के किसान, कारीगर और आदिवासी इस्तेमाल करते हैं। प्रकृति की लय में कार्य करने का यह उनका एक ज़बरदस्त आधार रहा है। यह हमारे किसानों/कारिगरों/आदिवासियों की तकनीकी और साइंस आधारित तकनीकी में एक महत्वपूर्ण अंतर है। साइंस आधारित तकनीकी बहुत अधिक ऊर्जा-अंतरों के इस्तेमाल से तीव्र गति पर आधारित हैं। ये केन्द्रीकृत व्यवस्थाओं की मांग करती हैं, यानि एक स्थान पर अधिक इंधन, अधिक कच्चे माल को एकत्र करने, अधिक संख्या में कामगार, अधिक बड़े उपकरण/मशीन आदि की मांग करती हैं तथा अधिक खपत के लिए बाहरी बाज़ार की मांग करती हैं। ये व्यवस्थाएं खर्चीली भी होती हैं और हर तरह से हर क्षेत्र में, हर आयाम में गैर-बराबरी को बढ़ाती जाती हैं। साइंस आधारित तकनीकी में कचरा भी बहुत अधिक बनता है और बहुधा यह प्रकृति में ज़ब्त नहीं होता तथा पर्यावरण के लिए घातक होता है। अधिक ऊर्जा-अंतरों और तीव्र गति पर आधारित उत्पादन और विकास ही विनाश का कारण बनता है और आज चहुं ओर होता हुआ देखा जा रहा है। इसीलिए गांधीजी की यह टिपण्णी रही कि यह नहीं है कि हमारे पूर्वज मशीन का आविष्कार नहीं कर सकते थे लेकिन वे जानते थे कि इसके नतीजे बुरे होंगे, इससे समाज का नैतिक ताना-बाना टूटेगा, इसलिए उन्होंने ऐसा नहीं किया।

आज प्रकृति के विनाश में आधुनिक तकनीकी का दोष तो है ही लेकिन साइंस का दोष अधिक है। साइंस में 'उपयोगी कार्य' का सिद्धांत है, जो किसी भी वस्तु को बनाने के लिए बल और क्रिया के प्रबंधन का सिद्धांत बनता है। उत्पादन की कोई इकाई अधिकतम उत्पादन (यानि अधिकतम मुनाफा) कैसे करे इसका एक आधारभूत सिद्धांत है। आवश्यक बल व क्रिया के लिए कैसे और किस तरह के तरीकों से संसाधन जुटाये जायें, इसके बारे में यह सिद्धांत मौन या उदासीन रहता है। सर्वोच्च प्राथमिकता उस वस्तु विशेष के उत्पादन को अधिकतम बनाने की क्रिया की समझ बनाने की है। इस सिद्धांत का इस्तेमाल कर कच्चे माल को 'उपयोगी वस्तु' में बदलने के कार्य बड़ी मात्रा में 'अनुपयोगी कचरा' पैदा करते हैं। यह कचरा आस-पास के समाज व पर्यावरण के लिए और उस इकाई के लिए भी बहुधा अनुपयोगी, समस्याजनक और कभी कभी ज़हरीला भी होता है। लेकिन फिर भी यही 'वैज्ञानिक विधि' कहलाती है।

दूसरी बात यह है कि साइंस में वस्तु/क्रिया/विषय आदि के संगठन और व्यवहार का अध्ययन उसे इतर वस्तुओं/वस्तुजगत से अलग ('अलगाव') कर किया जाता है। ऐसे में अध्ययनकर्ता, व्यक्ति अथवा संस्था को, अध्ययन की विषयवस्तु से बाहर इतर जगत के प्रति ज़िम्मेदार न रहने की छूट दे देता है। 'उपयोगी कार्य' और 'अलगाव' की अवधारणा 'संकुचित और स्वार्थ आधारित क्रियाओं व व्यवस्थाओं' को तेज़ व कार्यक्षम बनाती हैं। सामाजिक विषयों में यह वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने में इसकी संकीर्णता और भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है।

इसके विपरीत यहाँ की परम्पराओं में हर कार्य में और लगभग सभी सृजनकार्यों में, कृषि, उद्योग, गृहस्थी आदि में भी, 'नैतिक, सुन्दर और उपयोगी' में कोई भेद नहीं माना जाता। दैनिक जीवन की वस्तुयें, संबंध और प्रबंधन इसी दृष्टि से आकार लेते रहे। जीवन का कोई पक्ष, साधन, क्रिया आदि कला से अछूती नहीं रही। सब जगह शिल्प और कला को स्थान रहा। घर के आँगन, दरवाजे, दीवारें, ताखे, खिड़कियाँ, झरोखें, ओसारे, बरामदे, कुंए की जगत, तेल के कोल्हू आदि तो कला के नमूने होते ही थे, साथ में रसोई के बर्तन, उपकरण, पूजा के सामान, वस्त्र,

आदि में कला अपने पूरे निखार पर रहती और उत्सवों में तो चरम को छू लेती। स्त्री-पुरुष सभी मिलकर इसमें भागीदार होते।

इसके बावजूद लोक में भौतिकता को नश्वर मानने का विचार भी प्रखर उपस्थिति रखता रहा और संग्रह की वृत्ति को संयमित करने की याद को निरंतर जीवंत बनाये रखता रहा। हर उत्सव इस असंग्रह की वृत्ति को जीवन में उतारने की याद दिलाता है। इतना ही नहीं, इसके चलते शरीर, ढाँचा, व्यवस्था और संगठन की नश्वरता को भी प्रकट करता है। सृजन के हर क्षेत्र और स्तर पर विसर्जन और नवीनीकरण की मांग को प्रकट करता है। यह चौखट से बाहर निकलने की प्रेरणा और मान्यता को प्रकट करता है।

ऐसे ज्ञानी व सृजनशील समाजों को जाति में बंधा देखने की दृष्टि हमें अंग्रेजों अथवा आधुनिक शिक्षा के मार्फत मिली है। जातियों को मात्र पेशों से जोड़ कर देखने से, श्रम-विभाजन के रूप में देखने से या सामाजिक व्यवहार के मार्फत परखने से समाज का पूरा चित्र दिखाई नहीं देता और यहाँ के व्यक्ति और उसकी सामाजिक शक्ति को समझ पाना मुश्किल हो जाता है। यूरोप के विचारों में समाज के घटकों को अलग-अलग और परस्पर घर्षण में देखने की समझ है और समाज को समझने का यह ज्ञान साइंस के सिद्धांतों की चौखट से मेल खाता है। आपसी घटकों के हित खंड-खंड में देखे जाते हैं, हर कोई अपने हित के लिए लड़ता देखा जाता है और हितों के इस टकराव, घर्षण या लड़ाई का प्रबंधन किस तरह हो इसमें राजनीतिक विचारधाराओं का निर्माण हुआ है। इस चौखट के मार्फत हमारे समाज की समझ बनाना मुश्किल ही नहीं, असंभव है।

हमारी दार्शनिक परम्पराओं में तो मिलन और बिछोह ही इस संसार की गति का आधार है और मनुष्य का जीवन मिलन के प्रयासों में रत रहना है। कला परम्पराओं की ज्ञानी कपिला वात्सायन के अनुसार हमारे समाजों में इस अखिल ब्रह्माण्ड के दृश्य और अदृश्य जगत में सभी जगह निरंतर मैथुन (मिलन और नव निर्माण) ही चहुँ ओर छाया माना गया है। ऐसे समाजों में जाति और धर्म के ढाँचे/संगठन लचीले और गतिशील रहे हैं। विश्वविद्यालय के पठन-पाठन और शोध में इन्हें जितना स्थिर और जकड़ा दिखाया जाता है उतने शायद ये कभी भी नहीं थे। अंग्रेजों की जनगणना ने इन्हें बाँध दिया और अपने राजनीतिक हितों में इसका

उपयोग किया, इन्हें रहस्यमय, अप्रासंगिक और उलझी सामाजिक संरचनाओं के रूप में प्रचारित किया। इसके विपरीत साहित्य और कला में जो समाज चित्रण है उसमें ये इतने बंधे दिखाई नहीं देते, न पेशे से और न व्यवहार में।

आस्था के सवाल पर भी वितरित सत्ता के विचार ने आकार लिया। एक साथ कई देवताओं में श्रद्धा रखने, उनकी पूजा करने का रिवाज रहा और आज भी है। इसमें कभी-कभी धार्मिक भेद भी मिट जाते हैं।

आपसी विवाद दंगे अथवा हत्या पर जाने से रोकने के कारगर उपाय थे। पंचायत स्तर पर ही विवादों को सुलझाने की प्रथा रही। दोषी/अपराधी को सजा देने के प्रकार भी मानवीय रहे। किसी भी कार्य-क्षेत्र के अपराधी को मार डालने की सजा शायद ही रही हो। सामान्य अपराधों के लिए मामूली जुर्माना और गंभीर अपराध पर समाज-भोज अथवा गाँव-भोज करवाने होते। समाज से बाहर करना यह सबसे कड़ी सजा थी। सह-भोज बार-बार ऐसा अवसर ले आते, जिनमें पिछली आपसी कटुता, कट्टरता, और विवादों को भुलाने का प्रयास होता।

राज्यसत्ता का विरोध करने के तरीके अनोखे थे। जैसे अंग्रेजों ने जब किसानों से उपज का 50-80 फीसदी उठाना शुरू किया तो कई जगह किसानों ने उपजाऊ ज़मीनों को छोड़ बंजर ज़मीनों पर फसल लेना शुरू किया। बनारस में 1880 का भवन कर के विरोध का जन आन्दोलन अनोखा माना जाता रहा है, जिसमें अंग्रेजों द्वारा लगाये गए भवन कर के विरोध में लोग अपने घरों से निकल कर गंगाजी के किनारे बालू पर लगभग महीने भर डटे रहे। कुछ वर्ष पहले आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले के किसानों ने सरकारों की अन्यायकारी नीतियों के विरोध में फसल न लेने का सत्याग्रह किया था। इसी तरह केन्द्रीय सरकार की कृषि-नीति के विरोध में उत्तर प्रदेश के किसान संगठन ने उत्पादन न बढ़ाने का फैसला भी लिया था।

इस सन्दर्भ में एक बहुत ही अद्भुत उदहारण देना यहाँ सही होगा। चेन्नई के अर्काट जिले के कई गाँवों में महाभारत का एक बड़ा नाट्य उत्सव कई वर्षों से मनाया जाता है, जिस पर तमिलनाडु के फिल्मकार सशिकान्थ अनंताचारी ने एक वृत्तचित्र 'केलई द्रौपदी' नाम से बनाया है। 20 दिन तक चलने वाला यह उत्सव वास्तव में भाईचारा और युद्ध विरोधी मनोभावों का उत्सव है और लोकशक्ति के

लचीले रूप को सामने लाता है। महाभारत की इस नाट्य कथा में उस क्षेत्र की लोकस्मृति और इतिहास को कथा रूप में पिरोया जाता है। कला की हर विधा (चित्रकला, वास्तु, मूर्ति, कथा, काव्य, संगीत, नाट्य, खेल, आदि) और गाँव के जन-जन की सृजन क्षमता की भागीदारी के साथ यह उत्सव मनाया जाता है। महाभारत के इस नाट्य उत्सव में एक प्रथा की कहानी है कि जब कोई राजा किसी प्रदेश को जीतता हुआ आता है तो उसे गाँव वालों के साथ गाँव की सीमा पर वार्ता करनी पड़ती थी। यह वार्ता ऐसे समझौते के लिए होती थी जिसके अंतर्गत राजा और उसकी व्यवस्था का गाँव में प्रवेश वर्जित रहे। इसके बदले राजा एक मांग करता जो सामान्यतः कर के रूप में होती। इस समझौते की निशानी गाँव के बाहर एक पत्थर लगा कर दी जाती। गाँव वालों की ओर से विजेता राजा (चाहे वह राजा मुसलमान हो) से हर बार यह वार्ता 'द्रौपदी' करती है। **लोक द्वारा 'स्वराज' का यह रूपक बहुत ही सशक्त गढ़ा जाता है, जो उत्सव के हर पक्ष में दिखाई देता है।**

गांधीजी ने इसी तरह की परंपराओं को निखारने और प्रभावी बनाने का आग्रह किया। यहाँ सामान्यतः राजा की भूमिका अथवा 'शासन' की भूमिका कम-से-कम रहने का ही स्वागत किया जाता रहा। 'शासन' की प्रवृत्ति अमर्यादित होने की है और वह लोक/समाजों की स्वायत्तता को तोड़ता है। किसान, कारीगर, आदिवासी समाजों की बहुलता में पला यह जन-जीवन 'शासन' नहीं, पंचायतों के प्रति जवाबदेही को सबसे अधिक मूल्य देता रहा है यानि सबसे निकट के लोगों/समाजों के प्रति सर्वाधिक जवाबदेही 'स्वशासन' कहा जाता रहा। आज के किसान आन्दोलन इसकी फिर से याद दिला रहे हैं।

'स्वराज' के लिए यह विश्वास अर्जित करना अनिवार्य है कि समाज की किसी भी, छोटी अथवा बड़ी समस्या का हल समाज के पास उपलब्ध ज्ञान और संसाधनों के मार्फत हो जाता है, बशर्ते स्वायत्तता, प्रेम (भाईचारा) और प्रकृति की लय में जीने का ज्ञान और हौसला हासिल हो।



20वीं सदी में वितरित सत्ता के प्रयास

हमारे समाजों में 'शासन' की वृत्ति अथवा महत्वाकांक्षा को अच्छा नहीं माना गया है। धन, बल, ज्ञान, धर्म की संग्रहित/संगठित व्यवस्थायें स्वयंस्फूर्त पहल, चेतना, कर्म को दबाती हैं और 'आदेश' आधारित व्यवस्थाओं को आकार देती हैं। समाज में मालिक-नौकर के भेद बढ़ाती हैं। इसमें अपने और पराये का भेद सर्वाधिक तो हो ही जाता है साथ ही इस रास्ते से फिर मनुष्य की गतिविधियों पर दुष्ट भाव (स्वार्थ, लालच, संग्रह, हिंसा, जैसे) हावी होते जाते हैं। औद्योगिक युग में मुनाफा आधारित वस्तुओं के उत्पादन की क्रियाओं से धनसंग्रह (मुनाफा/पूँजी) के अनैतिक कार्यों को बढ़ावा मिला। साइंस का ज्ञान और उस पर आधारित तकनीकी ने इसकी व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं को गढ़ने में पूरा सहयोग दिया। आधुनिक राज्य का विकास इन दो पैरों पर दौड़ने लगा। राजनीति इन तीनों, पूँजी-साइंस-राज्य, के गठबंधन पर कब्जे की नीति बन गई। केन्द्रीय शासन की व्यवस्था को राजनीति ने सबसे महत्त्व का बना दिया। 'राजनीति' केन्द्रीय शासन की व्यवस्थाओं को संगठित और संचालित करने के विचार और साधनों को जन्म देती है। इसमें लोकहित का अभाव होता है।

सामान्यतः इसीलिए आज भी लोग राजनीति को 'चालाकी' करने के अर्थ में ही समझते हैं। हमारे देश की आबादी किसान, कारीगर, आदिवासी बहुल है और आज़ादी के 73-74 वर्षों के बाद भी अधिकांश आबादी 'राजनीति' से पटरी नहीं बैठा पाई है। आज भी ये समाज 'राजनीति' के विचार और साधनों को अपना नहीं पा रहे हैं तो इसीलिए कि वे इस दुनिया को अमानवीय और कुरूप बनाने में हिस्सेदार होना नहीं चाहते। ये समाज राजनीतिक नहीं हैं।

हमारे देश में 20वीं सदी में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में 'स्वराज' शब्द लोकप्रिय और लोकमान्य हुआ, लेकिन इसका अर्थ अंग्रेजी के 'सेल्फ रूल' से ही लिया गया, जिसका मोटा मतलब यह था कि अंग्रेजों से मुल्क आज़ाद हो और यहाँ भारत के लोग राज करें। गांधीजी ने 'स्वायत्तता, पर-पीड़ा के प्रति संवेदना और

समाजों के ज्ञान पर आधारित सामान्य जीवन का संगठन जैसे धागों से 'स्वराज' बनाने के कदम उठाये। उनके कदमों से कदम मिला कर चलने के लिए बड़े पैमाने पर जन-समाज शामिल होते चले गए, क्योंकि ऐसे 'स्वराज' की सोच उन्हें अपने विचारों से मेल खाती दिखाई दी। गांधीजी ने हवा चला दी। सारे ढक्कन उड़ गए। देश के दार्शनिक, कलाकार और विचारकों ने गांधीजी के स्वराज के विचार को इस भूमि के विलक्षण ऊर्जावान विचार के रूप में पहचाना। विद्वान् दार्शनिक के. सी. भट्टाचार्य ने 1928 में 'स्वराज इन आइडियाज़' विषय पर कोलकाता के हुगली कालेज के छात्रों के साथ हुई वार्ता में दर्शन के स्तर पर स्वराज के विचार की गहराइयों को उजागर किया।

समाज की इस चेतना और प्रकाश के नेतृत्व में 'स्वराज' को साकार करने का पहला चरण, अंग्रेजों की सत्ता से मुक्ति का, पूरा हुआ। लेकिन स्वराज को गढ़ने का काम शुरू नहीं हो पाया। हालाँकि देश के कुछ हिस्सों में आज़ादी के पहले और आज़ादी के बाद भी सत्ता की वितरित व्यवस्थाओं को आकार देने के प्रयास हुए। ऐसे प्रयास लोकशक्ति के आधार बनते हैं और आज भी प्रासंगिक हैं। इनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख करना उचित ही होगा।

● औंध का स्वराज संविधान (1938)

महाराष्ट्र-कर्णाटक इलाके में एक रियासत थी, औंध नाम से। यह रियासत मराठा राज्य के अवसान के भी बाद बनी रही। यह बहुत छोटी सी रियासत थी लेकिन अंग्रेजों के सीधे शासन वाली रियासतों से अधिक स्वायत्त थी। आज के महाराष्ट्र के सांगली, सातारा और कर्णाटक के बीजापुर जिले के कुल 72 गाँवों की इस रियासत के राजा भवनराव और उनके बेटे अप्पा पन्त, दोनों ही, गांधीजी के नेतृत्व में आज़ादी के आन्दोलन के समर्थक रहे। 1938 से 1947 तक लगभग 10 वर्षों तक उन्होंने अपनी रियासत में 'स्वराज संविधान' बनाकर उसे लागू करने में पहल ली। यह पहल 'औंध का स्वराज प्रयोग' कहलाई।

बात 1938 के गर्मियों की है। इस रियासत के गाँवों से हजारों किसान (लगभग 6000 की संख्या में) एकजुट होकर नारे लगाते हुए रियासत की राजधानी

की ओर चल दिए। वे बहुत गुस्से में थे। राजा के सलाहकार और मंत्री बेहद घबराए हुए थे लेकिन राजा से उन्होंने कुछ कहा नहीं। जब किसान राजधानी के नज़दीक आ गये और राजा से बात करने की मांग करने लगे तो राजा कोलाहल सुन कर बाहर आये। उन्होंने सलाहकारों से पूछा कि बात क्या है? बिना विचलित हुए उन्होंने पूरी बात सुनी और युवराज की ओर देखा। युवराज ने नम्रता से उत्तर दिया कि किसानों से पूछा जाना चाहिये कि वे किसलिए विरोध जता रहे हैं? राजा ने कहा “ठीक है, ऐसा ही हो”।

दूसरे दिन सभी किसानों का स्वागत कर उन्हें भोज दिया गया। शाम तक आस-पास के बहुत से गाँवों के किसान, जिनमें कई औंध रियासत के नहीं भी थे, वहां आ गए। किसानों की दो मांगें थीं। एक, कर कम किये जायें और दूसरा, प्रशासन को बेहतर बनाया जाए। राजा मान गए।

लेकिन इतना ही नहीं हुआ।

राजा ने अगले छः माह के भीतर कई काम कर के 23 नवम्बर 1938 को अपनी प्रजा के सामने घोषणा की “ मेरी प्रजा अब स्वयं इतनी काबिल है कि अपना राज चला सकती है”। उन्होंने अपना सिंहासन त्याग कर “स्वराज संविधान” को प्रजा के हाथ सौंप दिया।

यह “औंध का स्वराज संविधान” कहलाया जो युवराज अप्पा पन्त की पहल पर गांधीजी के मार्गदर्शन में बनाया गया। इसमें कांग्रेस के नेता शंकर राव देव और बी.वी.शिखरे के द्वारा औंध प्रशासन के अध्ययन व मूल्यांकन के बाद की गई शिफ़ारिशों को शामिल किया गया। यह स्वराज संविधान अपना लेने के दिन से दस वर्षों तक इसे लागू किया गया। अंग्रेजों से आज़ादी के साथ इस रियासत का भारत में विलय हो गया।

स्वराज संविधान को बनाने के लिये राजा भवनराव और युवराज अप्पा पन्त गांधीजी से मिलने सेवाग्राम गये थे और कुछ दिन वही ठहर गये। गांधीजी ने राजा के सामने शर्त रखी कि स्वराज संविधान लागू करने के लिए उन्हें राजमहल छोड़ कर सामान्य लोगों की तरह छोटे घर में रहना होगा। राजा ने सहमति दी।

इन दस वर्षों में 'स्वराज' के तहत कई आश्चर्यजनक कार्य हुए उनमें से तीन बहुत ही जानने योग्य हैं- 1942 में भयंकर अकाल के संकट को औंध के लोगों ने बहुत सही ढंग से हल किया। दूसरे, लगभग 70 गांवों में शिक्षा की व्यवस्था एक साल के अन्दर की गई, पढ़ाई का माध्यम स्थानीय भाषा को बनाया और दस वर्षों तक इसे प्रभावी ढंग से चलाया। तीसरे, न्याय की व्यवस्था को सरल और लोकोन्मुख बना दिया। (गाँधी वांग्मय, खंड 68, वर्ष 1939).

देखें लिंक https://en.wikipedia.org/wiki/Aundh_Experiment

- **तामलुक स्वराज पंचायत (1942)**

तामलुक बंगाल के मिदनापुर की एक तहसील थी। देश में 1938 के आस-पास से देसी रियासतों की प्रजा भी आजादी के आन्दोलन में सक्रिय होने लगी। आम तौर पर प्रजा की इस सक्रियता को दबाया जा रहा था लेकिन त्रावनकोर, राजकोट, जयपुर, हैदराबाद तथा उड़ीसा की कुछ रियासतों में जन जागृति की लहर तेज थी। कर्णाटक के रामदुर्ग, जामखंडी, औंध और मिरज, के राजाओं ने प्रजा की बातों को काफी हद तक माना। बंगाल में मिदनापुर, बिहार में भागलपुर और बलिया के समार्यों ने समाज-व्यवस्था और सञ्चालन को अपने हाथ में लिया और अपने-अपने इलाकों को अंग्रेजों से आजाद करा लेने के प्रयास किये। 1942 में जब कांग्रेस के अधिकांश वरिष्ठ नेता गिरफ्तार कर लिए गए थे, पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले में तामलुक तहसील के स्थानीय नेतृत्व ने गंभीरता के साथ कुछ प्रयास किये। तामलुक तहसील में स्वराज पंचायत का गठन किया गया। स्वराज पंचायत ने स्थानीय प्रशासन के लगभग सारे काम अपने हाथ लिये। गाँवों के अन्न भण्डारण पर नियंत्रण, सुरक्षा, लोककल्याण और शांति के कार्य, विवादों को सुलझाने और संदिग्ध व्यक्तियों को गाँव के अन्दर प्रवेश पर रोक आदि सभी का सञ्चालन समार्यों की भागीदारी के साथ किये। अंग्रेज सरकार की दमनात्मक कार्यवाही के चलते ये अल्प समय तक ही जिंदा रह पाये।

- **उड़ीसा में स्वराज के प्रयोग (1942)**

उड़ीसा में बासुदेवपुर, बालसोड़, तलचर और ढेंकनाल में जन आन्दोलन तेज हो गए। जन-जन में स्वराज के सपने सजने लगे। कहीं-कहीं स्वराज की व्यवस्था

को चलाने के प्रयास किये गए। कुछ स्वराज व्यवस्थायें महीना डेढ़ महीना चलीं भी। लेकिन राज्य के लठैतों और अंग्रेज सरकार ने मिलकर इन्हें कुचल दिया। कहते हैं आतंक और क्रूरता के माहौल ने तलचर में कुल 75,000 की आबादी में से 26,000 की आबादी को इलाका छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। उड़ीसा की एक छोटी सी रियासत रणपुर में तो वीरानी छा गई। लेकिन स्वराज के इन लोक प्रयासों ने समाज के आत्मविश्वास को जगा दिया।

- **विनोबा भावे का सर्वोदय और स्वराज के विचार**

आजादी के बाद विनोबा भावे ने 'सर्वोदय समाज' के नाम से गाँधी जनों को एकत्रित रखा। भूदान आन्दोलन के जरिये इनकी संख्या में बड़ी बढ़ोत्तरी हुई और गाँव के इर्द-गिर्द समाज की पुनर्चना के विचार को सार्वजनिक बहस में बार-बार ले आने के अवसर भी पैदा किये।

लोकनीति और स्वराज शास्त्र के नाम से विनोबाजी का लेखन उपलब्ध है, जिसमें उन्होंने स्वराज पर अपने विचार रखे हैं। इन पुस्तकों में बहुत ही सरल भाषा में वे लोकनीति, लोकशक्ति जैसे विचारों के जरिये राजनीति के विकल्प की चर्चा करते हैं। राजनीति में निहित पाखण्ड को विस्तार से उजागर करते हैं। सत्ता के स्थान पर शक्ति के निर्माण और प्रयोग द्वारा स्वराज की ओर बढ़ने का आग्रह रखते हैं। इस सिलसिले में उत्तर भारत में कुछ स्थानों पर धीरेन्द्र मजुमदार द्वारा आत्मनिर्भर और स्वशासित गाँवों के निर्माण के प्रयोग उल्लेखनीय हैं। समाज की विभिन्न क्रियाओं और आवश्यकताओं तथा स्वराज के मूल्यों और मनुष्य की उसमें भूमिका पर विनोबा ने बहुत कुछ लिखा है और जिसमें गाँधी जनों के 'ग्राम स्वराज अभियान' का आधार रहा है।

- **चौ. चरणसिंह का 'किसान सत्ता' का विचार**

1960 के दशक में किसानों का एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय होने लगा। चौधरी चरण सिंह इस प्रक्रिया के सबसे बड़े नेता रहे। जनता पार्टी के शासन के दौरान 1978 में दिल्ली के बोट क्लब पर लाखों किसानों की उपस्थिति में उन्होंने 'किसान सत्ता' का विचार दिया। सत्ता के केंद्र में किसान हो और बागडोर

उसके हाथ में हो, इससे किसान परिवार और गाँव की संप्रभुता के विचार को बल मिलता है, जिसमें स्वराज की बुनियाद का एक खम्भा देखा जाना चाहिए।

● **डा. राम मनोहर लोहिया का चौखम्भा राज का विचार (1956)**

डा. राम मनोहर लोहिया के अनुसार राज्य की सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। उनका कहना था कि प्रभुसत्ता केवल राज्यसत्ता तक ही सीमित न रहे, उसका विभाजन (वितरण) ऐसा होना चाहिए कि वह गाँव-गाँव तक पहुंचे। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी अवधारणाओं के बीच समन्वय और संतुलन-स्थापित करने के लिए उन्होंने 'चौखम्भा राज' का विचार दिया। इस चौखम्भा राज के अन्तर्गत गाँव, मण्डल (जिला), प्रान्त और केन्द्र सरकार के अस्तित्व और महत्व को बनाये रखते हुए उन्हें कार्यमूलक संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जाना चाहिए। वे अपने-अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए स्वायत्तता के आधार पर एक सूत्र में बंधे रहें। कुछ अधिक विस्तार से उन्होंने नीचे दिए गए बिन्दुओं से चौखम्भा राज के चित्र को स्पष्ट बनाने का प्रयास किया।

- सशक्त सेना केन्द्र के अधीन, सशक्त पुलिस प्रान्त के अधीन और पुलिस मण्डल के अधीन रहे। मशीनों वाले कपड़ों के उद्योग ग्रामों एवं मण्डलों के अधीन रहें।
- कृषि ढांचे में, पूंजी और श्रम का अनुपात ग्राम और मण्डल की इच्छा पर रहे।
- सहकारी समितियां, कृषि सुधार, सिंचाई का अधिकांश भाग, बीज, भू-राजस्व वसूली आदि राज्य नियंत्रित विषय 'चौखम्भा राज' के ग्राम और मण्डल के अधीन किये जायें।
- कर के रूप में केन्द्रीय शासन के पास जो धन एकत्रित हो उसका एक भाग गाँव या शहर को, दूसरा मण्डल को, तीसरा प्रान्त को और चौथा भाग केन्द्र को प्राप्त हो। जब तक जनतान्त्रिक संस्थाओं के पास धन न होगा वे अपने कार्यों का सही तरीके से सम्पादन नहीं कर सकेंगी।

उन्होंने समाज में शक्ति का संचार हो इसके लिए सप्त क्रांति का आवाहन किया जिसमें निम्नलिखित कार्यों को आकार देने था।

- नर-नारी की समानता हो।
- चमड़ी के रंग पर रची राजकीय, आर्थिक और दिमागी असमानता खत्म हो।
- संस्कारगत, जन्मजात जातिप्रथा का विरोध और पिछड़ों को विशेष अवसर हो।
- परदेसी गुलामी का विरोध हो, स्वतन्त्रता तथा विश्व में लोक-राज के प्रयास हों।
- निजी पूँजी की विषमताओं का विरोध हो और आर्थिक समानता के लिए तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के प्रयास हों।
- निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप का विरोध हो और लोकतांत्रिक पद्धति अपनाई जाये।
- अस्त्र-शस्त्र का विरोध हो और सत्याग्रह के रास्ते अपनायें।

इस विचार के प्रकाश में ही 'दाम बांधो', 'अंग्रेजी हटाओ', 'जाति तोड़ो' जैसे सशक्त आंदोलनों ने आकार लिया, जिन्होंने सामान्य जन-जीवन को आत्मविश्वास और स्वयंस्फूर्त प्रयासों की चेतना से भर दिया।

● जयप्रकाश नारायण का दलविहीन लोकतंत्र (1976)

वर्ष 1970 से ही देश में केन्द्रीय सरकार के हाथ में सत्ता के केन्द्रीकरण की गति अत्यधिक तेज होने लगी। विरोध के हर स्वर को दबा देने की नीति अपनाई गई। 1975 में देश में आपात्काल लगा दिया गया। इस दौर में लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में इस सत्ता के विरोध में बड़े पैमाने पर लामबंदी हुई और 1977 के आम चुनावों में कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार को सत्ता छोड़नी पड़ी।

जयप्रकाश ने एक वितरित राज्य सत्ता की अवधारणा दी। उन्होंने संसदीय लोकतंत्र की जगह एक दल-विहीन लोकतंत्र की अवधारणा को स्थापित किया। उनका विचार था कि आधुनिक लोकतंत्र में दलीय व्यवस्था इतनी प्रभावी हो गई है

कि लोकतन्त्र अब दलतन्त्र बन गया है। राजनीतिक दल समग्र समाज का नहीं बल्कि संकुचित हितों का ही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। ऐसे में दलतन्त्र राजनीतिक भ्रष्टाचार को फैलाता है और लोगों में फूट डालता है। यह अनैतिक साधनों का प्रयोग करके लोकतन्त्र के वास्तविक अर्थ को कलंकित कर रहा है। दलों की गैर-जिम्मेदाराना भूमिका पर अंकुश लगाने के लिये दल-विहीन लोकतन्त्र की अवधारणा प्रभावी हो सकती है। दल विहीन लोकतन्त्र को लागू करने के बारे में जयप्रकाश नारायण ने सुझाव दिये, जैसे—

- ग्राम स्तर से केन्द्रीय स्तर तक के उम्मीदवारों का प्रत्यक्ष चुनाव हो। चुनाव प्रणाली समाप्त करके प्रत्येक गांव में से ग्राम सभा दो सदस्य निर्वाचित करके उस निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता परिषद के पास भेजे। इसके बाद मतदाता परिषद की खुली बैठक में राज्य विधानपालिका या केन्द्रीय संसद के लिए उम्मीदवारों के नाम तय किये जाए।
- सभी दलों को सर्वोदय के कार्य में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया जाये। ताकि दलगत भावना का अन्त हो। दलगत राजनीति से मुक्त सर्वोदय समाज की स्थापना की जाये।

जयप्रकाश नारायण के विचारों पर आधारित आन्दोलन के चलते आजादी के बाद पहली बार दिल्ली में कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार को हटा कर जनता पार्टी की सरकार बनी।

● किसान आन्दोलन का 'अराजनीतिकता' का विचार

वितरित सत्ता के दर्शन में इस देश के किसानों ने एक महत्वपूर्ण विचार दिया है। 1970 के दशक से ही देश के विभिन्न प्रदेशों में केन्द्रीय सरकार की कृषि सम्बंधित नीतियों के विरोध में किसान आन्दोलन आकार लेने लगे। तमिलनाडु, कर्णाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश में ये बहुत अधिक सशक्त और संगठित थे। इन किसान आंदोलनों ने खुद को 'अ-राजनीतिक' कहा। 'स्वराज' के दर्शन में 'अ-राजनीतिक सत्ता' के विचार का एक महत्वपूर्ण स्थान बनता है। इन किसान आंदोलनों के विचार, संगठन के प्रकार, विरोध के मुद्दे और तरीके 'अराजनीतिक' रहे तथा युद्धोन्मुख अथवा आक्रामक कभी नहीं रहे। केन्द्रीय

राज्यसत्ता द्वारा 'भारत' की जनता को किस तरह 'इण्डिया' के मातहत गुलामी की ओर ले जाया जा रहा है इसका स्पष्ट चित्र इन्होंने जनता के सामने रखा। सामूहिक निर्णय, जिम्मेदारी का सामाजिक एहसास और समग्र चेतना की भागीदारी के साथ इन आंदोलनों ने लोकशक्ति के बुनियादी नैतिक तत्वों को उजागर किया।

किसान आंदोलनों ने देश की आर्थिक नीति और उसके सहारे दिल्ली की राज्यसत्ता के पास एकत्र हो रही ताकत का आधार गांवों से समृद्धि उठाकर बड़े उद्योगों को देने में देखा। बड़े उद्योगों के विकास के लिये किसानों को लगातार घाटे में बनाये रखने की नीतियां अपनाई गईं हालाँकि देश की आम जनता की खुशहाली गांवों को खुशहाल करने से ही संभव है और इसके लिए किसानों को बड़े उद्योगों के जूँये से अलग करना होगा। यह कृषि को लाभप्रद बनाकर ही होगा। लेकिन देश की राज्यसत्ता, आर्थिक नीति और राजनीति की व्यवस्थाओं को बनाने और चलाने वालों में इसके प्रति उदासीनता है (या उनकी मंशा ही कुछ और है)। किसी भी राजनीतिक पार्टी की नीति में 'किसान और गाँव' की खुशहाली को प्राथमिकता नहीं है। किसान, गाँव, और देश की खुशहाली के लिए वितरित सत्ता के विचार को इन किसान आंदोलनों से सदैव बल मिला है।

● जल-जंगल-ज़मीन और पर्यावरण के आन्दोलनों की प्रवृत्ति

बड़े उद्योगों के विकास के दौर में प्रकृति के संहार के चलते और बड़े पैमाने पर किसानों और आदिवासियों के विस्थापन के चलते देश भर में स्थानीय लोगों के पक्ष में तथा पर्यावरण के पक्ष में आन्दोलन खड़े होने लगे। इन आंदोलनों का नेतृत्व अधिकांश राजनितिक दलों से स्वतंत्र रहा। 'जल-जंगल-ज़मीन' के नाम पर जाने गए इन आंदोलनों ने ऐसे विकास को 'विनाश' कहा। ये आन्दोलन अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों के नेतृत्व में रहे स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही। इनमें स्थानीय निकाय/इकाइयों को निर्णय व पहल लेने की शक्ति हो इसकी पुरजोर वकालत की गई। स्थानीय संसाधनों पर स्थानीय निकायों का नियंत्रण हो इस आवाज़ को संगठित करने के प्रयास हुये। स्थानीय समाजों और निकायों की निर्णय लेने की और संसाधन प्रबंधन की लोकप्रिय क्षमताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया जिसमें स्वराज के विचार के भ्रूण देखे जा सकते हैं।



21वीं सदी में वितरित सत्ता की सोच का मैदान

स्वराज परम्पराओं के इस प्रकाश में 21वीं सदी में मनुष्य की गतिविधि के हर क्षेत्र में स्वराज अथवा वितरित सत्ता के विचारों की खोज और नवनिर्माण की पहल होनी चाहिए। संवेदनशील चिंतक, विचारक और सामाजिक/राजनैतिक कार्यकर्ता सभी यह महसूस करने लगे हैं कि इसके लिए औद्योगिक युग के ज्ञान(साइंस), दर्शन और राजनीतिक विचारों की चौखट से बाहर निकलने की ज़रूरत है।

ज्ञान नैतिक होगा तो समाज-संगठन और सञ्चालन के प्रकार भी नैतिक होंगे। आज एक ऐसे ज्ञान-आन्दोलन की ज़रूरत है, जो आज की परिस्थिति में हमारी परंपराओं के सहारे एक वितरित सत्ता के ज्ञान की ज़मीन तैयार करे, बीज बोये, फसल उगाये, उसके अन्न से हम पोषित हों और इसी से बने वस्त्र धारण करें। संत वचनों से हम जानते हैं कि शरीर/ढांचे/व्यवस्था अथवा संगठन तो नश्वर हैं, लेकिन यह नैतिक सत्ता को कायम करने के साधन भी हैं। इन्हें जब तक सभी जड़-जीवों की अपनी-अपनी स्वभावगत क्षमता और ज्ञान की प्रभावी स्वायत्त भागीदारी से नहीं गढ़ा जायेगा, ये लोकहितकारी नहीं बनते। कई देशों में इन्हें ऐसा बनाने के प्रयास अब दिखाई देने लगे हैं। हमारे देश का किसान आन्दोलन ऐसे ज्ञान-आन्दोलन की ज़मीन बनाने की एक पहल है। लोकविद्या दर्शन, पवित्र आर्थिकी अभियान, अन्न संप्रभुता का विचार आदि जैसे प्रयास आज आशा की किरणें हैं, जो अलग-अलग स्थानों से बीज बोने की दिशा में उठाये जा रहे कदम हैं। इनकी चर्चा हम यहाँ करेंगे लेकिन इसके पहले 21वीं सदी में ज्ञान क्षेत्र की चौखट पर एक नज़र डाल लें।

इस सदी में ज्ञान के क्षेत्र में कई नये दरवाजे खुल गए हैं। कंप्यूटर व सूचना तकनीकी, जैव तकनीकी और नैनो तकनीकी का तेज़ी से विकास हुआ है। इनके साथ काम्प्यूटिव साइंस यानि 'समझ का विज्ञान' के नाम पर वैज्ञानिक शोध ने नए रास्ते अपनाये हैं। इन्हें 'कन्वर्जिंग टेक्नोलाजीज़' कहा जाता है। ये सब मिलकर ज्ञान की दुनिया में एक बड़ा बदलाव ला रही हैं। इनमें निहित 'ज्ञान' की सहायता से

शरीर/ढाँचे/व्यवस्थाओं की विभिन्न इकाइयों के कार्य व व्यवहार प्रत्यक्ष उपस्थिति के बिना भी, दूरस्थ तंत्रों से देखे और नियंत्रित किये जा सकते हैं। इसके लिए नये-नये प्रकार के ज्ञान और तकनीकियाँ विकसित की जा रही हैं। ये तकनीकियाँ राज्यसत्ताओं के हाथ एक शक्तिशाली औजार बनती जा रही हैं। इन्होंने स्थानीय लोगों व समाजों की कार्यशक्ति, निर्णयशक्ति, पहल आदि को प्रभावी ढंग से नियंत्रित करना संभव बना दिया है।

21वीं सदी का यह नया ज्ञान जड़-जीव को उनके 'स्वभाव' से दूर ले जाने का ज्ञान है और अनैतिक ही जान पड़ता है। ये मनुष्य की पहचान ही बदलने की तैयारियाँ हैं। अब नस्ल, समाज, सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति, ब्रह्माण्ड आदि के भौतिक, रासायनिक और जैविक मूल की खोज और उसके साथ मेल खाने वाले उद्यम और राजनीति साथ-साथ आकार ले रहे हैं। पूरी दुनिया में धर्म, जाति, नस्ल, जन्म स्थान, राष्ट्र, भाषा, आदि से सम्बंधित सवालियों पर आज युद्ध की स्थिति बनती जा रही है। ये सब प्रयास मुनाफे के तीव्र संग्रह और एकाधिकार की व्यवस्थाओं को विस्तार देने के सहगामी हैं। नए ज्ञान का वित्तीय पूँजी और राज्य के साथ का गठबंधन महाविनाशकारी है।

ऐसे परिदृश्य में दुनिया में कुछ ऐसे प्रयास भी हो रहे हैं, जो हमें नैतिक दुनिया बनाने की ओर ले जाने की कोशिश करते दिखाई देते हैं और वितरित सत्ता के निर्माण के आग्रह रखते हैं। इनके बारे में नीचे हम संक्षेप में जानकारी दे रहे हैं।

- **विश्व सामाजिक मंच** : इस सदी के प्रारम्भ से ही युद्धों की काली छाया घिर गई। इन युद्धों ने वैश्विक साम्राज्य के विस्तार का अत्यंत कुरूप और अनैतिक दौर शुरू होने की घोषणा कर दी। अमन पसंद लोगों ने कई देशों में युद्ध विरोधी बड़े-बड़े जुलूस निकाल कर अपने-अपने देश की सरकारों को युद्ध से विमुख रहने का दबाव बनाया। इसी के साथ एक 'विश्व सामाजिक मंच' बना जिसने दुनिया के कई देशों में विशाल सम्मलेन किये। इन सम्मेलनों को सामाजिक सम्मेलन कहा गया, जिनका नारा था 'दूसरी दुनिया संभव है'। इस अंतर्राष्ट्रीय मंच ने दुनिया के अनेक देशों, समाजों और संस्कृतियों के पास 'वितरित सत्ता' के विचारों और परम्पराओं को जानने का अवसर उपलब्ध कराया। इस मंच के प्रयास अब भी निरंतर चल रहे हैं।

(देखें https://en.wikipedia.org/wiki/World_Social_Forum)

- **स्वराज के विचार का पुनरोदय :** भारत में 'स्वराज' शब्द पुनः एक बार सार्वजनिक-राजनीतिक बहस में गूँज उठा। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन (2011) में लोकपाल और लोकायुक्त की मांग, स्वराज अभियान, किसान स्वराज यात्रा का संगठन आदि में एक वितरित सत्ता की आवश्यकता के प्रति जन समर्थन प्राप्त करने के प्रयास दिखते हैं। आदिवासी, किसान और कारीगर समाजों के बड़े पैमाने पर हुए विस्थापन के चलते जन-आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की पहल पर जन-संसद का आयोजन इसी दिशा में एक प्रयास है। आज़ादी बचाओ आन्दोलन के नेतृत्व में इलाहाबाद में स्वराज विद्यापीठ का निर्माण, सर्वोदय का ग्राम स्वराज अभियान और वाराणसी से विद्या आश्रम की लोकविद्या स्वराज नाम से पहल इसी प्रवाह की अन्य कड़ियाँ हैं। और भी छोटे-बड़े प्रयोग कई जगहों पर हुए। इन प्रयासों ने 20वीं सदी के विचारों के अलावा अन्य प्रकार की राज्यसत्ता के विचारों को समझने की आवश्यकता को अवश्य उजागर कर दिया तथा गाँधी पुनः प्रासंगिक बन गये।
- **अन्न सम्प्रभुता का आन्दोलन :** किसानों का एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'वाया कम्पेसिना' के नाम से इस सदी के शुरूआती दौर में सक्रिय भूमिका में आ गया। वैश्विक साम्राज्य के निर्माण में अधिकांश विकासशील देशों में किसानों और आदिवासियों को बेदखल करने की बड़ी मुहिम चली। बीज, खाद, फसल के प्रकार, बाज़ार आदि पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की दखल बढती गई। दुनिया के ताकतवर देशों की सरकारें 'खाद्य सुरक्षा' के नाम पर किसान और जनता के भोजन के भण्डारण, बिक्री और फसल पर एकाधिकार की ओर अग्रसर हुईं। जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न परिस्थितियां जगह-जगह किसानों के लिए नए संकट पैदा कर रही थीं। ऐसे में किसानों के इस अंतरराष्ट्रीय संगठन ने 'अन्न संप्रभुता' का विचार दिया। यह खाद्य क्षेत्र पर किसान और गाँव-समाज का स्वायत्त अधिकार होने का विचार है। कहा जा रहा है कि अपने इलाके के लोगों के लिए खाद्यान्न की आपूर्ति किसानों की ज़िम्मेदारी है और इसके लिए उन्हें स्थानीय संसाधनों के इस्तेमाल का पूरा अधिकार होना चाहिए।

(देखें लिंक <https://viacampesina.org/en/food-sovereignty/>)

- **लोकविद्या जन आन्दोलन** : विद्या आश्रम समूह की पहल पर शुरू हुये इस आन्दोलन ने लोकविद्या यानि 'समाज में ज्ञान' को स्वराज का एक महत्त्वपूर्ण आधार माना है। यह एक ज्ञान आन्दोलन है और इसका विचार यह है कि हर मनुष्य ज्ञानी है और अपने ज्ञान के बल पर जीवनयापन का उसे जन्मसिद्ध अधिकार है। सभी समाजों, सभ्यताओं और संस्कृतियों में ज्ञान एक विश्वदृष्टि के साथ समुच्चय की अवस्था में निरंतर नवीनीकृत होता रहता है। व्यक्ति, समाज और प्रकृति की मिलीजुली भागीदारी से निर्मित ज्ञान पर किसी एक व्यक्ति, संस्था अथवा राज्य का नहीं बल्कि सभी का हक है। दुनिया में धरती के कोने-कोने से और विविध समाजों से निकली ज्ञान धाराओं का आपस में मिलन और नवीनीकरण हर युग में होता रहता है। ज्ञान धाराओं के इस मिलन और नवीनता के प्रवाह का निरंतर बना रहना ही समाज-संगठन का एक आधार रहा है। ज्ञान धाराओं में ऊँच-नीच का भाव और समाज-संगठन में ऊँच-नीच दोनों एक दूसरे के कारक और परिणाम होते हैं। ऐसे में ज्ञान क्षेत्र पर किसी एक ज्ञान-धारा का एकाधिकार अनैतिक है और समाज-संगठन की व्यवस्थाओं को अनैतिक बनाने के स्रोत बनाती हैं। किसी भी वितरित राज्यसत्ता, स्वराज, अथवा न्यायपूर्ण समाज की कल्पना में 'ज्ञान' का वितरित और स्वायत्त स्वरूप अनिवार्य है। समाज-संगठन के ऐसे कई प्रकार हो सकते हैं, जो ज्ञान की सत्ता का न्याय और विवेक के साथ प्रबंधन करते हों। लोकविद्या जन आन्दोलन के बारे में अधिक जानने के लिए देखें वेब साईट : www.vidyaashram.org
- **'धरती माँ' और 'अच्छा जीवन' के विचार** : दक्षिण अमेरिका के कुछ देशों ने इस सदी के प्रथम दशक से समाज संगठन/सञ्चालन के यूरोपीय विचारों को छोड़ अपने देश की परम्पराओं के आधार पर समाज संगठन का विचार दिया है। बोलीविया देश ने 'धरती माँ' का और इक्वाडोर ने 'अच्छा जीवन' का विचार अपने-अपने देशों की आदिवासी बहुल संस्कृतियों के आधार पर आज के समयानुकूल बनाने के प्रयास किये हैं। दुनिया की राज्यसत्ताओं का नई ज्ञान तकनीकियों के साथ दृढ़ हो रहे गठबंधन पर दक्षिण

अमेरिका के कुछ देशों के विचारक गंभीर नैतिक सवाल खड़े कर रहे हैं। उनके अनुसार सत्ता, वित्त, संसाधनों और साधनों पर एकाधिकार के ये उपक्रम बेहद हिंसक हैं और वे मानते हैं कि 'यह दुनिया कई दुनियाओं से बनी है'। ये सब प्रयास कितने सफल होंगे यह वक्त ही बताएगा लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ये नैतिक दुनिया को गढ़ने की ओर ले जाने वाले कदम हैं।

देखें लिंक <https://therightsofnature.org/universal-declaration/>

- **पवित्र आर्थिकी के लिए सत्याग्रह** : कर्णाटक में ग्राम सेवा संघ ने एक 'पवित्र आर्थिकी' का विचार दिया है। (देखें gramsevasangh.org)। ग्राम सेवा संघ हाथ से बने उत्पाद, विशेषतः हथकरघा पर बने वस्त्रों को बनाने वाले परिवारों के बीच सक्रिय है। विचार यह है कि श्रम पवित्र होता है और हाथ से बने उत्पाद पर आधारित आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था इस दुनिया को नैतिक, बेहतर और पवित्र बनायेगी।

आज केन्द्रीय शासन की आर्थिक नीतियों के चलते हाथ से सामान बनाने वाले समाज तेज़ी से अपने रोज़गार खो रहे हैं और प्रकृति के बेतहाशा दोहन की नीति ने धरती पर से जीवन के चिह्न मिट जाने का खतरा पैदा हो गया है। यह राजनीति व आर्थिकी स्वभाव से भक्षक है। इसमें नैतिकता को कोई स्थान नहीं है। इस आर्थिक व्यवस्था में कुछ पल के लिए लगता है कि संपदा बढ़ रही है, लेकिन बस उतना ही, इसके दूरगामी नतीजे विपरीत हैं। ऐसे में आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्थाओं का पुनर्संगठन आवश्यक है। इस सर्वभक्षी आर्थिकी का विकल्प 'पवित्र आर्थिकी' में है। देखें

<https://gramsevasangh.org/2020/03/29/satyagraha-for-sacred-economy-eng/>



अंत में

आज दुनिया के लगभग सभी देशों की सरकारें अपनी राजसत्ता और शासन की व्यवस्थाओं को 'वैश्विक मायावी साम्राज्य' के अनुकूल बनाने पर जोर दे रही हैं। ऐसा करने में वे अपने देश के ही लोगों और समाजों को 'दुश्मन' की तरह देखने में नहीं हिचकतीं। निस्संदेह ये केवल शासक ही कर रहे हैं ऐसा नहीं, बल्कि इसके पीछे उन तमाम लोगों के स्वार्थ जुड़े हैं, जो अनैतिक कार्यों से जीवन का संगठन करने में लगे हैं। ऐसे लोग और राजसत्ता जीवन को नष्ट कर अनैतिक शासन को मजबूत बनाते हैं। फिलहाल वे मदहोश हैं। मदहोश सत्ताओं को केवल नैतिक अस्त्रों से ही पराजित किया जा सकता है। 'वितरित सत्ता' का विचार ऐसा ही एक नैतिक अस्त्र प्रदान करता है।

हमारी परम्पराओं से प्राप्त ज्ञान हमें इसके मार्ग भी दिखाता है। यहाँ बुद्ध के विचार मार्ग सूचक हैं। बुद्ध कुछ सवालों पर मौन रहने के लिए कहते हैं जैसे, मूल (आदि, आरम्भ) के बारे में, अंत के बारे में, अपने बारे में तथा सबके बारे में। वे कहते हैं कि इन सवालों के जवाब की खोज सत्य से भटकाव है। रैदास के अनुसार भी 'शुद्धता' का सवाल अथवा खोज भ्रम है, सत्यमार्ग नहीं है। वे कहते हैं...

मैं पूजा कहाँ चढाऊँ? फल अरु फूल अनूप न पाऊँ
थन तर दूध जो बछरू, जुठारा पुष्प भंवर,
जल मीन बिगारा, मलयागिर बेधिए भुजंगा
विष अमृत दोउ एकै संग्गा।

आज का नया ज्ञान 'शुद्ध' और 'मूल' के इर्द-गिर्द केन्द्रित होते हुए अर्थ और राज की दुनिया में बड़े भटकाव पैदा कर रहा है। ऐसी स्थिति में इसके विरोध में जन मानस में और समाजों में जो विचार और कार्य आकार ले रहे हैं, उस ओर हमें देखना होगा। लेकिन इन्हें देख पाने के लिए खुद में विश्वास पैदा करना होगा कि हर मनुष्य ज्ञानी है, नैतिक सत्ता का स्वामी है, जो उसे स्वायत्त शक्ति प्रदान करते हैं। ऐसी स्वायत्तता ऊँच-नीच को खत्म करने और एक सक्रिय समाज के निर्माण की बुनियाद है। यह सोच समाज में कई सृजनशील केंद्र बनने का आग्रह

करती है और यह वितरित सत्ता का विचार है। इसलिए 'वितरित सत्ता' या स्वराज के विचारों को गढ़ने के लिए एक ज्ञान आन्दोलन अथवा ज्ञान अभियान की जरूरत है, जो ज्ञान क्षेत्र में अनेक ज्ञान धाराओं के मिलन का और उनके बीच बराबरी और भाईचारे के रिश्ते बनाने का आग्रह रखे। ऐसी पहल की संभावनायें कुछ क्षेत्रों में दिखाई देती हैं, जिन्हें चिन्हित करने के प्रयास नीचे दिये हैं।

- **बाज़ार :** गाँव और कस्बों को देखें तो यहाँ के बाज़ार वे प्रकट सार्वजनिक स्थान हैं, जहाँ विविध ज्ञान धारायें और उनसे बने उत्पाद एक जगह आते हैं। ज्ञान-धाराओं/उत्पादों का यह मिलन कुछ ऐसा मिलन होता है, जिसमें हर ज्ञान-धारा अपनी स्वायत्त पहचान रखती है। जीवनोपयोगी सामानों से भरे ये बाज़ार 'वितरित सत्ता' के विचारों के लिए एक उर्वर स्थान हैं। यहाँ ज्ञान आन्दोलन की भूमिका महत्वपूर्ण बनती दिखाई देती है। गाँव और कस्बों के इन 'स्थानीय बाज़ारों' में केन्द्रीय शासन और बड़ी पूँजी की दखल को मर्यादित करने का आग्रह 'बौद्धिक सत्याग्रह' है। यह मनुष्य और समाज को नैतिक पथ पर ले आने का सत्याग्रह होगा। मनुष्य की मूलभूत जरूरत, यानि रोटी, कपड़ा और मकान के विषयों में स्थानीय जन, स्थानीय ज्ञान और स्थानीय खपत को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का आग्रह हमें इस मार्ग पर बढ़ने का प्रकाश देता है। गरीबी और बेरोजगारी को खत्म करने का यह एक नैतिक और प्रभावी रास्ता साबित होगा।
- **चिकित्सा क्षेत्र :** नई तकनीकी और ज्ञान के आधार पर चिकित्सा क्षेत्र का पुनर्संगठन बहुत तेज़ी के साथ हो रहा है। इस पुनर्संगठन के चलते आम मनुष्य का उसके खुद के शरीर और उसकी क्रियाओं पर नियंत्रण कम करने की संभावनाएं पैदा हो रही हैं। कोरोना महामारी के दौर में इसके स्पष्ट संकेत भी मिलने लगे हैं। ऐसे में नये ज्ञान और चिकित्सा की व्यवस्थाओं के इस नए संगठन से मनुष्य की आत्मा और शरीर का आपसी संवाद टूट जायेगा और हम सत्य और विवेक के साथ कर्म को जोड़ने की शक्ति खो बैठेंगे। इसलिए हमें अपने मन और शरीर की देखभाल और चिकित्सा के तरीकों पर अपने निर्णय का अधिकार बचाना होगा। ऐसी चेतना और तदनुकूल कार्य चिकित्सा जगत में वितरित व्यवस्थाओं के निर्माण के आग्रह सामने लायेंगे।

- **समाज सुविधायें :** मनुष्य की सामाजिक गतिविधियों को निरंतर सक्रिय बनाये रखने के लिए व्यवस्था और कार्य की अनेक इकाइयों में आपसी मेल के विविध मार्ग बनते रहें, यह ज़रूरी है। गौर करने की बात है कि ज्ञान, कार्य और लेन-देन अगर छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयों में हों, जैसे गाँव या कस्बों में हों, तो मनुष्य की सक्रियता व्यापक रूप लेती है, यानि पूरा समाज सक्रिय हो उठता है। ज्ञान, शिक्षा, तकनीकी, भण्डारण, मनोरंजन, निर्माण आदि सभी सार्वजनिक सुविधाओं को गढ़ने में स्थानीय ज्ञान को वरीयता मिले इसके लिए प्रयास होंगे तो यह संभव भी दिखाई देता है। किसी भौगोलिक इकाई में सार्वजनिक सुविधायें कौन सी हों तथा उनका निर्माण और सञ्चालन कैसे हो, इस बारे में स्थानीय समाज की राय और पहल होने का आग्रह समाजों को बल प्रदान करेंगे।

